नव्यन्यायभाषाप्रदीपः

[BRIEF NOTES ON THE MODERN NYĀYA SYSTEM OF PHILOSOPHY AND ITS TECHNICAL TERMS]

ॐ

SŪRIRĀMA-PUṆYASMṚTI-GRANTHAMĀLĀ-10

NAVYANYĀYA-BHĀṢĀPRADĪPAḤ

[BRIEF NOTES ON THE MODERN NYĀYA SYSTEM OF PHILOSOPHY AND ITS TECHNICAL TERMS]

By

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA

MAHEŚA CANDRA NYĀYARATNA

"PARIŚIṢṬA PRAKARAṆA" and "SUPRABHĀ" Commentary by

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA KĀLĪPADA TARKĀCĀRYA

Edited by

ĀCĀRYA VIJAYA JAGATCANDRASŪRI MAHĀRĀJA

the disciple of H. Holiness

ĀCĀRYA VIJAYA RĀMASURĪŚVARAJĪ MAHĀRĀJA (DAHELĀVĀLĀ)

Publisher

ĀCĀRYA SURENDRASŪRĪŚVARAJĪ JAINA TATTVAJÑĀNAŚĀLĀ

AHMEDABAD - SURAT

Second Edition :
A.D. 2025 Vikrama era 2081 Vīra era 2551

ISBN : 978-81-926306-4-9

© All Rights Reserved

Publisher :
ĀCĀRYA SURENDRASŪRĪŚVARAJĪ
JAINA TATTVAJÑĀNAŚĀLĀ
12 Sreyansnath Society
Behind Dharanidhar Jain Temple
Vasna, Ahmedabad 380007
Telephone : (079) 2660 6367
Web : www.jaintatvagyanshala.org
Email : surajparivar@gmail.com

Distributor :
Parshva Publication
102, Nandaon Complex
Mithakhali Gam, Ahmedabad 380006

Copies : 350

Price : ₹300-00

Type Setting :
Khushbu Graphics
Nandan Complex
Mithakhali Gam, Ahmedabad 380006

Printers :
Shri Swaminarayan Mudran Mandir
Shayona Estate, Dudheswar Road
Shahpur, Ahmedabad 380004

सूरिराम-पुण्यस्मृति-ग्रन्थमाला - १०

महामहोपाध्याय-श्रीमहेशचन्द्रन्यायरत्न-प्रणीतः

नव्यन्यायभाषाप्रदीपः

महामहोपाध्याय-श्रीकालीपदतर्काचार्य-विरचित-
परिशिष्टप्रकरण-सुप्रभाव्याख्याभ्यामलङ्कृतः

सम्पादकाः

तपागच्छाधिपति-आचार्यदेव-श्रीमद्विजय-**रामसूरीश्वराणां** विनेयाः
आचार्यदेव-श्रीमद्विजय-**जगच्चन्द्रसूरीश्वराः**
(डहेलावाला)

प्रकाशिका
आचार्य सुरेन्द्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञानशाला
अहमदाबाद - सुरत

द्वितीय आवृत्ति :
ई.स. २०२५ वि.सं. २०८१ वी.सं. २५५१

ISBN : 978-81-926306-4-9

© सर्वेऽधिकाराः स्वायत्ताः

प्रकाशक :
आचार्य सुरेन्द्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञानशाला
१२ श्रेयांसनाथ सोसायटी
धरणीधर देरासर के पीछे
वासणा, अहमदाबाद ३८०००७
टेलीफ़ोन : (०७९) २६६०६३६७
Web : www.jaintatvagyanshala.org
Email : surajparivar@gmail.com

प्राप्ति स्थान :
पार्श्व पब्लिकेशन
१०२, नंदन कॉम्प्लेक्स
मीठाखळी गाम, अहमदाबाद ३८०००६

प्रतयः ३५०

मूल्यम् : ₹३००-००

अक्षराङ्कनम् :
खुश्बू ग्राफिक्स
नंदन कॉम्प्लेक्स
मीठाखळी गाम, अहमदाबाद ३८०००६

मुद्रक :
श्री स्वामीनारायण मुद्रण मंदिर
शायोना एस्टेट, दूधेश्वर रोड़
शाहपुर, अहमदाबाद ३८०००४

गीतार्थमूर्धन्य, पुण्यनामधेय,

समतानिधि, संयमैकलक्षी,

सुनयनिपुण, समदर्शी,

स्थितप्रज्ञ, आत्मस्वभावस्थ,

मार्गामार्गविज्ञ, स्वाध्यायध्याननिरत, शुद्धतत्त्वप्ररूपक,
तपगच्छगगनमंडलदिनकर

आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रामसूरीश्वरजी महाराजा

(डहेलावाला)

की जन्मशताब्दी के मनभावन पावन अवसर पर

पूज्यश्री के करकमल में सादर सविनय

समर्पण.....

॥ अनुक्रमणिका ॥

	पृष्ठाङ्कः
सम्पादकीयम्	9
किञ्चित् वक्तव्यम्	12
BRIEF NOTES ON THE MODERN NYĀYA SYSTEM OF PHILOSOPHY AND ITS TECHNICAL TERMS	16
नव्यन्यायदर्शनम्–तदीयपरिभाषासम्बन्धिनी संक्षिप्तविवृत्तिश्च	24
प्राथमिक भारती	30
नव्यन्यायभाषाप्रदीपस्य विषयानुक्रमः	33
सटीकः नव्यन्यायभाषाप्रदीपः (सानुवादः)	1
परिशिष्टप्रकरणस्य विषयानुक्रमः	157
सटीकपरिशिष्टप्रकरणम्	159
सुप्रभाटीकान्तर्गत–ग्रन्थविशेषनाम्नां सूची	175
सुप्रभाटीकान्तर्गत–व्यक्तिविशेषनाम्नां सूची	176
A SHORT LIFE OF MAHEŚACHANDRA NYĀYARATNA	177

सम्पादकीयम्

भारतीय दर्शनों का अभ्यास करने के लिये सर्वप्रथम न्यायदर्शन का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। न्यायदर्शन के दो विभाग हैं– प्राचीन न्याय और नव्य न्याय। प्राचीन न्याय के निर्माता महर्षि गौतम हैं – जिनके ग्रन्थ का नाम है – 'न्यायसूत्र'। इस 'न्यायसूत्र' पर वात्स्यायन ने 'न्यायभाष्य' की रचना की है। उसके ऊपर उद्योगकर ने 'न्यायवार्तिक' की रचना की। वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवार्तिक–तात्पर्यटीका' रची। उस टीका पर उदयनाचार्य ने 'न्यायवार्तिक–तात्पर्यपरिशुद्धिटीका' की रचना की। ये सभी ग्रन्थ प्राचीन न्याय के अन्तर्गत आते हैं।

नव्य न्याय का पहला ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' है – जिसके कर्ता श्रीमद् गङ्गेशोपाध्याय हैं। यह ग्रन्थ दस हज़ार श्लोक प्रमाण है और युक्ति–प्रयुक्तियों के जाल से जटिल है। इस ग्रन्थ पर अनेकानेक टीकाओं की रचना हुई है और उन टीकाओं में भी इतना गांभीर्य है कि उन टीकाओं के खण्डों को भी स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में पढ़ाया जाता है। नव्य न्याय के ग्रन्थों में विशिष्ट और जटिल अवच्छेदक शैली का प्रयोग किया गया है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से बुद्धि परिकर्मित और सूक्ष्मग्राही होती है और बुद्धि का सूक्ष्मग्राही होना शास्त्र के एदंपर्यार्थ तक पहुँचने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नव्य न्याय के ग्रन्थों को पढ़ने के लिये उसकी परिभाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी हेतु से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना महोपाध्याय महेशचन्द्र–न्यायरत्न ने ई.स. १८९१ में की थी। इसकी भाषा अतीव सरल है। यह ग्रन्थ संस्कृत में होने के बावजूद ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का नाम – 'BRIEF NOTES ON THE MODERN NYĀYA SYSTEM OF PHILOSOPHY AND ITS TECHNICAL TERMS' – इस तरह अंग्रेज़ी में रखा था और प्रस्तावना भी अंग्रेज़ी में ही लिखी थी।

मूल ग्रन्थ के प्रकाशित होने के ८२ वर्ष बाद महोपाध्याय कालीपद तर्काचार्य ने इसका पुनः सम्पादन करके संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता से प्रकाशित किया। इस सम्पादन में उन्होंने ग्रन्थ का नाम संस्कृत में 'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' ऐसा रखा – जो कि मूल ग्रन्थकर्ता के द्वारा सूचित अंग्रेज़ी नाम के अनुसार था। तदोपरान्त मूलकार की अंग्रेज़ी प्रस्तावना का संस्कृतानुवाद भी इसमें जोड़ा गया। उन्होंने मूल ग्रन्थ का बङ्गभाषा में अनुवाद और बङ्गभाषा में एक नूतन 'सुप्रभा' नामक तलस्पर्शी टीका का भी प्रणयन किया। साथ में जिन परिभाषाओं के विषय में मूलकार ने प्रकाश नहीं डाला था, उन परिभाषाओं को 'परिशिष्ट–प्रकरण' नामक स्वतन्त्र प्रकरण बनाकर उस में स्पष्ट किया और साथ में बङ्गभाषा में उसका अनुवाद भी किया। अन्त में मूलग्रन्थकार का संक्षिप्त जीवन–परिचय भी अंग्रेज़ी भाषा में जोड़ा गया। इस तरह यह सम्पादन बहुत ही उपयोगी साबित हुआ।

विक्रम संवत् २०६७ में कलकत्ता में चातुर्मास के दौरान यह ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ। इसे देखने के बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि बङ्गभाषामय 'सुप्रभा' टीका का संस्कृत में अनुवाद करवाकर यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जाए तो विद्यार्थीयों को अधिक उपयोगी साबित होगा। इसी विचार से 'सुप्रभा' टीका के संस्कृत अनुवाद का कार्य न्यायदर्शन के विद्वान डॉ. अयन भट्टाचार्य को सौंपा गया। उन्होंने अपने शिष्य श्री विमल रक्षित से यह अनुवाद करवाकर स्वयं संशोधन करके हमें सौंपा। मेरे प्रशिष्य मुनि नयज्ञविजय ने मूलग्रन्थ और टीका, दोनों का हिन्दी अनुवाद विद्यार्थियों को उपयोगी होगा ऐसा मानकर तैयार किया है। जिसका संशोधन गुरुभ्राता मुनि विश्वचंद्रविजयजी ने किया है। यद्यपि सर्वप्रथम प्रो. हरेराम त्रिपाठी के पास ग्रन्थ का सटीक अनुवाद तैयार करवाया गया था, किन्तु कारणवशात् उसे यहाँ मुद्रित करना शक्य न हो पाने के कारण यह दूसरा अनुवाद तैयार किया गया है। इस प्रकार इस पुस्तक में मूलग्रन्थ की सुप्रभा टीका का संस्कृतानुवाद और सटीक मूलग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पहली बार प्रकाशित हो रहा हैं।

प्रारंभिक विद्यार्थी मूल ग्रन्थ को पढ़कर नव्यन्याय की परिभाषाओं का बोध प्राप्त कर सकते हैं। जिन्हें पूर्व से ही इन परिभाषाओं के किञ्चित् संस्कार हैं, वे इस ग्रन्थ का यदि टीका सहित अध्ययन करेंगे तो उन्हें अधिक लाभ होगा। तदनन्तर परिशिष्ट–प्रकरण का अध्ययन किया जा सकता है।

इस सम्पादन में हमें निम्नलिखित व्यक्तियों का सहयोग मिला है, हम उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं – डॉ. अयन भट्टाचार्य (कलकत्ता), डॉ. शेख साबिर अली (कलकत्ता), श्री विमल रक्षित (कलकत्ता), प्रो. हरेराम त्रिपाठी (दिल्ली), योगेशभाई महेता (कलकत्ता), किरीटभाई शाह (सायन–मुंबई) और राज्ञेशभाई शाह (अहमदाबाद), मनीष मोदी (मुंबई) ।

हमें आशा है कि विद्यार्थीगण इस ग्रन्थ के अध्ययन से नव्य न्याय का बोध प्राप्त करके हमारे श्रम को सफल बनायेंगे ।

लि.

चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, वि.सं. २०७३ **आचार्य विजय जगच्चन्द्रसूरि**

दि. ११–४–२०१७

जैन सोसायटी, अहमदाबाद

ग्रन्थ प्रकाशन के अनुमोदक

मुनिराज श्री विरागचन्द्र विजय म.सा.

मुनिराज श्री हर्षचन्द्र विजय म.सा.

मुनिराज श्री जिनचन्द्र विजय म.सा.

मुनिराज श्री हीरहर्ष विजय म.सा.

की प्रेरणा से

श्री पुरुषोत्तमपार्क कार्टररोड जैन संघ

बोरीवली (ईस्ट) की आराधक बहनें

– प्रकाशक

आचार्य सुरेन्द्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञानशाला

किञ्चित् वक्तव्यम्

सभी भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन विशेषतः नव्यन्याय का एक विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि न्यायदर्शन की अपनी एक विशिष्ट परिभाषा तथा व्याख्यापद्धति है। इस परिभाषा तथा व्याख्यापद्धति के कारण ही यह दर्शन अपने आप में दुरूह भी है। इस दर्शन की 'अवच्छेदकावच्छिन्न' शब्दप्रयोग से प्रचुर परिभाषा के कारण यह दर्शन जटिल बनता है – यह बात जितनी सत्य है उतनी ही यब बात भी कि – इस जटिल परिभाषा के कारण ही पदार्थ के निरूपण में सूक्ष्म स्तरीय स्पष्टता भी सम्भव हो पाती है।

न्यायदर्शन का अध्ययन दो भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से किया जाता रहा है। एक – न्यायदर्शन के सिद्धान्तों का बोध प्राप्त करने के लिए और दूसरा – न्यायदर्शन की परिभाषा का बोध प्राप्त करने के लिए। यद्यपि न्यायदर्शन की परिभाषा को छोड़कर केवल सिद्धान्तों का बोध प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार उसके सिद्धान्तों का त्याग करके केवल परिभाषा का ज्ञान प्राप्त करना भी सम्भव नहीं है। फिर भी किसी एक को मुख्य बनाकर न्यायदर्शन का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टि से न्यायदर्शन के विद्यार्थीओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। एक – जो मुख्यतः न्यायदर्शन के सिद्धान्तों को जानना चाहते हैं और दूसरा – जिनका मुख्य उद्देश्य न्याय की परिभाषा को जानना है।

विद्यार्थीओं के विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर नैयायिकों ने विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया है। सिद्धान्तबोध ही जिनका मुख्य लक्ष्य है उन विद्यार्थियों के लिए तर्कसंग्रह एवं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की रचना की गई है।

इसी प्रकार परिभाषाबोध जिनका मुख्य लक्ष्य है उन विद्यार्थियों के लिए 'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' ग्रन्थ का सर्जन हुआ है।

✲

नव्यन्याय की परिभाषा का स्फुट बोध प्राप्त करने के लिए 'धर्म' और

'सम्बन्ध' – इन दोनों की स्पष्टता अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण से प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में ही धर्म, उसके दो भेद – जाति और उपाधि तथा उपाधि के दो भेद – सखण्डोपाधि और अखण्डोपाधि की विस्तृत चर्चा की गई है। तदनन्तर साक्षात्सम्बन्ध और परम्परासम्बन्ध तथा वृत्तिनियामकसम्बन्ध और वृत्ति–अनियामकसम्बन्ध – इस प्रकार के सम्बन्ध के भेदों का निरूपण करते हुए संयोगसम्बन्ध, समवायसम्बन्ध, स्वरूपसम्बन्ध, कालिकसम्बन्ध और पर्याप्तिसम्बन्ध की विशद व्याख्या की गई है। उसके बाद सम्बन्ध तथा अभाव दोनों के प्रतियोगी तथा अनुयोगी नामक दो सम्बन्धियों को बताया गया है। तत्पश्चात् प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में किसी एक धर्म को तथा किसी एक सम्बन्ध को मानना क्यों आवश्यक है ? इसका तर्कपूर्ण विधान किया गया है। प्रसंग से ग्रन्थकार ने अभाव के भेदों का भी विस्तृत विवेचन किया है। अंत में ग्रन्थकार ने ज्ञान के विभिन्न स्वरूप, जैसे – निर्विकल्पज्ञान, सविकल्पकज्ञान, विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान, निश्चयज्ञान, संशयज्ञान, समूहालम्बनज्ञान – इत्यादि के विषय में प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने जिस तरह विषयों का संयोजन किया है, उससे ग्रन्थ का नाम 'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' सार्थक प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से नव्यन्याय की परिभाषा इतनी स्पष्ट हो जाती है जितनी दीपक के आलोक में स्थित वस्तु।

❋

प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन करते वक्त विद्यार्थीगण कृपया निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें।

१) विद्यार्थी की सुगमता के लिए हमने मूलग्रन्थ को ३० भागों में बांटकर उसे क्रमांक दे दिये हैं। उसी तरह टीका के भी प्रत्येक पेरेग्राफ को नंबर दे दिये गये हैं।

२) सर्वप्रथम मूलग्रन्थ के एक अंश को रखा गया है। तदनन्तर उस अंश से सम्बन्धित टीका के अंशों को रखा गया है। उसके बाद मूल तथा टीका के उतने ही अंशों का हिन्दी अनुवाद रखा गया है। तत्पश्चात् टिप्पणी को जोड़ा गया है।

३) मूलग्रन्थ तथा टीका का अनुवाद करते वक्त जहाँ स्पष्टता के लिए कुछ शब्द या वाक्य जोड़ने की जरूरत लगी वहाँ उतने अंश को हमने अपनी ओर से कौंस ( ) में जोड़ दिया है। परन्तु जहाँ विशेष स्पष्टता तथा रेखांकन की आवश्यकता महसूस हुई, वहाँ हमने टिप्पणी के रूप में स्वतन्त्र स्पष्टता की है।

४) विद्यार्थी की सुगमता को ध्यान में रखकर पूर्व के दोनों सम्पादनों में जगह जगह पर पदों में संधि न करके पदों को अलग अलग रखा गया था। हमने भी इस सम्पादन में इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

५) मूलग्रन्थ में 'A' से 'L' तक के अंग्रेजी वर्ण द्वारा निर्दिष्ट बारह फूटनोट में से 'E' फूटनोट टीकाकार के द्वारा जोड़े गये हैं। अन्य सभी फूटनोट स्वयं मूलग्रन्थकार ने ही लिखी है।

६) जिन विद्यार्थियों ने पूर्व में न्याय के किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन नहीं किया है वे यदि प्रथम केवल मूलग्रन्थ का और तत्पश्चात् सुप्रभा टीका का अध्ययन करेंगे तो अनुकूलता रहेगी। किन्तु जिन्होंने पूर्व में न्याय के किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन किया है वे विद्यार्थी मूलग्रन्थ एवं टीका का साथ-साथ अध्ययन करेंगे तो अधिक स्पष्ट बोध प्राप्त होगा।

७) मूलग्रन्थकार ने जिन परिभाषाओं का स्पर्श नहीं किया है, उन परिभाषाओं के स्पष्टीकरणार्थ टीकाकार ने 'परिशिष्टप्रकरण' नामक स्वतंत्र प्रकरण की रचना की है। मूलग्रन्थ का सटीक अध्ययन करने के बाद उसका भी अध्ययन करना लाभप्रद सिद्ध होगा।

❋

'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' ग्रन्थ के सटीक अनुवाद कार्य की पूर्णता के अवसर पर मैं उन उपकारियों का स्मरण करना उचित समझता हूँ जिनके बिना यह कार्य पूर्ण होना शायद असम्भव ही था।

- तपागच्छाधिपति, आत्मस्वभावस्थ, आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामसूरीश्वरजी महाराजा (डहेलावाला)**, जिनकी दिव्य कृपा से ही यह कार्य प्रारंभ हुआ और पूर्णता को भी प्राप्त हुआ।

- भवोदधितारक पूज्य गुरूदेव आचार्य श्री विजय **जगच्चन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा**, जिनकी सतत प्रेरणा, मार्गदर्शन व सहयोग के कारण अनेक अवरोधों के बीच भी यह कार्य पूर्ण हो सका।
- पूज्य गुरूदेव पंन्यास श्री **कल्पज्ञविजयजी महाराज** तथा सहवर्ती मुनिवृंद, जिन्होंने अनुवाद कार्य की प्रगति के बारे में सतत पृच्छा आदि के द्वारा मेरा उत्साह बनाये रखा।
- पूज्य मुनिराज श्री **विश्वचंद्रविजयजी महाराज**, जिन्होंने अपनी अत्यंत व्यस्तता के बीच सम्पूर्ण अनुवाद का संशोधन किया।
- श्री **किरीटभाई शाह** (सायन-मुंबई), जिन्होंने अत्यंत परिश्रम करके, इस ग्रन्थ की स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा सम्पादित प्रथम आवृत्ति की पुस्तक, केलिफोर्निया डिजिटल लायब्रेरी के माध्यम से उपलब्ध करवाई।
- **राज्ञेशभाई वोरा** (पार्श्व पब्लिकेशन), जिन्होंने कड़ी मेहनत व धीरज से इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को समाप्ति तक पहुंचाया।
- **मनीष मोदी** (हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय), जिन्होंने हिन्दी भाषा की वर्तनी में अनेक सुधार किये तथा सम्पादन कार्य के विषय में उपयोगी सुझाव दिये।

❋

विद्वद्गण से विनती है कि, ग्रन्थ का अध्ययन करते वक्त अनुवाद में कोई क्षति मालूम पडे तो कृपया हमें सूचित करें। ताकि द्वितीय संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

अन्त में, इस ग्रन्थ के माध्यम से न्याय का बोध प्राप्त करने के बाद, विद्यार्थीगण पूर्वाचार्यों द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थसम्पदा के आस्वादन से अपनी आत्मसाधना के उच्चशिखर को प्राप्त करें, यही शुभाभिलाषा।

तीर्थपति श्री वीरप्रभु जन्मकल्याणकदिन — गुरुकृपाकांक्षी
चैत्र - शुक्ला - त्रयोदशी, वि. सं. २०७३ — **मुनि नयज्ञविजय**
दि. ९-४-२०१७
जैन सोसायटी, अहमदाबाद

BRIEF NOTES ON THE MODERN NYĀYA SYSTEM OF PHILOSOPHY AND ITS TECHENICAL TERMS

The term Nyāya is composed of नि (with certainty) इ or अय (to go) and अ (by which) and means literally the method of coming with certainty (to a conclusion). As used in Hindu Philosophy it means the syllogism. Gotama is the earliest writer who treats of the syllogism; and his work, the Gautama-Sūtra (aphorisms of Gotama), and those of writers who discuss philosophical questions according to his method, whether they discuss the syllogism or not, make up the Nyāya system of philosophy.

Nyāya philosophy may be divided into ancient and modern. Ancient Nyāya treats not only of the syllogism, but discusses all sorts of questions, physical and metaphysical, applying, where necessary, the syllogistic method. Modern Nyāya, as regards the subjects of discussion, makes no departure from the ancient. Rather, it restricts itself to fewer subjects; but those it discusses, it discusses with a nicety and a minute. Precision unknown to ancient Nyāya. It lays particular stress on a strict definition of terms, and it aims at ascertaining precisely even the meanings of expression in common use and so intelligible to all. For example, Gotama, in putting forth his aphorism, साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा (1.2-3) does not think it necessary that he should attempt any elucidation of the meaning of

the term प्रतिज्ञा। His earlier commentators too, Pakṣila Svāmin and others, make no such attempt. Gaṅgeśa Upādhyāya, the founder of the modern school of Nyāya, enters upon a lengthy discussion about the meaning of प्रतिज्ञा, remarking that साध्यनिर्देश is inadequate as s characteristic of प्रतिज्ञा, for साध्यनिर्देश might be understood as simply meaning,-naming the साध्य। He notices also other points. He puts forth the following as the characteristic of प्रतिज्ञा—

उद्देश्यानुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वे सति उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनकं वाक्यं प्रतिज्ञा।

Raghunātha Śiromaṇi improves upon the above thus:-

प्रकृतन्यायावयवत्वे सति प्रकृतानुमितिपक्षविशेषकप्रकृतानुमितिसाध्य-प्रकारकप्रकृतानुमितिपक्षविशेष्यतानिरूपितप्रकृतसाध्यप्रकारताविलक्षण-विषयताशून्यशब्दज्ञानजनकं वाक्यं प्रतिज्ञा।

Then follows Gadādhara, who discusses the question at greater length than his predecessors, bringing out several nice points, and comes at last to the following conclusion:-

"पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकानुमितिप्रयोजकन्यायावयवत्वे सति पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यता-वच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितसाध्यता-वच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताशालिनिश्चयत्वाव-च्छिन्नानिवर्त्यसंशयनिवर्तकतावच्छेदकविषयातशून्यशाब्दज्ञानजनकं वाक्यं प्रतिज्ञा।"

An old Nyāya work lays down अव्यभिचरितत्व or अविनाभाव (invariable connection) as the characteristic attribute of व्याप्ति।

Gaṅgeśa Upādhyāya thinks this characterisation insufficient. and so he delivers himself as follows :-

"प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगितावच्छेद-कावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" ।

Raghunātha Śiromaṇi improves upon Gaṅgeśa's elucidation thus:-

"निरुक्तप्रतियोग्यनधिकरणहेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धा-वच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयावभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्भावच्छिन्नस्य व्यापकत्वं व्यापकसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" ।

He is followed by Bhavānanda, Mathurānātha, Jagadīśa and Gadādhara, each with some improvement of his own. Jagadīśa's conclusion is as follows:-

"स्वावच्छेदकताघटकसम्बन्धेन यादृशप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छिन्ना-नधिकरणं हेत्वधिकरणं तादृशप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नावच्छे-दकताकत्वयद्धर्मावच्छिन्नावछेदकताकत्वोभयोभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्न-सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः" ।

A hair-splitting subtlety in the discussion of meanings of terms is, thus, the distinguishing characteristic of modern Nyāya. Poverty of matter is its great drawback. Notwithstanding this drawback, however, it is an excellent training for the intellect, which, under its discipline, acquires a power of precise thinking that is beyond all price. Without a study of modern Nyāya it is impossible, again, to thoroughly understand certain Sanskrit works on philosophy, law, rhetoric and even grammar; for example, the Citsukhī, a commentary by Citsukhācārya on Nyāyamakaranda (a treatise on Vedānta Philosophy by Ānandbodha), the Dāyabhāgaprabodhini, a commentry by Śrikṛṣṇa Tarkālaṅkāra on Dāyabhāga (a treatise on the Hindu Law of Inheritance), the

Kāvyaprakāśādarśa, a commentary by Maheśvara Nyāyālaṅkāra on Kāvya-prakāsa (a work on rhetoric). and Pāribhāṣenduśekhara and Mañjuṣā (work on Grammar) by Nāgeśa Bhaṭṭa.

The Sūtras of Gotama, the Bhāṣya of Pakṣila Svāmin, the Vārtika of Udyotakara Ācārya, the Tātparya-ṭīkā of Vācaspti Miśra, Tātparyyatikā-pariśuddhi of Udayan Ācārya come under the head of ancient Nyāya. The works on Vaiśeṣika philosophy with the exception of a few, such as Muktāvalī, may also be included under the same head. All the works on Nyāya from Gaṅgeśa's, who lived probably in the 14th century, down to Gadādhara's, who lived in the latter half of the 17th century, come under the head of modern Nyāya.

Gaṅgeśa Upādhyāya was a native of Mithilā (north-eastern Bihar). He founded the modern school of Nyāya. His great work is the Tattva-Cintāmaṇi of which the subject is प्रमाण (proof), one of the sixteen categories laid down by Gotama in his Sūtras. The system introduced by him received further development at the hands of his disciples, among whom was his own son Vardhamāna Upādhyāya, up to the time of Pakṣadhara Miśra, who flourished in the middle of the 15th century. He was the writter of a commentary called Āloka on Gaṅgeśa's Tattva- Cintāmaṇi. Down to the time of Pakṣadhara the study of modern Nyāya was almost exclusively confined to Mithilā, which became the resort of pupils from all parts of India. The literary activity of the Mithilā school began to decline after the time of Pakṣadhara, whose work called Āloka is the last standard work on mod-

ern Nyāya. The school, however, continued to flourish, and is not yet extinct in Mithilā, It may be noticed here incidentally that the works of Gaṅgeśa and his followers effected a revolution in the study of Nyāya and completely superseded the ancient Nyāya works, such as the Bhāṣya, the Vārtika etc. so much so that very few paṇḍits of the present day possess even copies of these works.

From Mithilā, the study of modern Nyāya spread to Navadvīpa (Nadīyā, the same as Nuddea) and the students who had studied the subjects in Mithilā began to teach it to their pupils in the latter place. The name of the paṇḍit who first introduced the study of modern Nyāya into Navadvīpa can not be ascertained. Rāmabhadra Siddhānta-vāgiśa is the earliest Nadīyā writer on Nyāya of whom we have no certain knowledge. He wrote a commentary on the Kusumāñjali of Udayana Ācārya. The image of the goddess Kāli, known as "Podā-Mā" (burnt mother) in consequence of its having been burnt once and to which offerings are made by students on the eve of their departure from Navadvīpa after the completion of their studies there, is said to have been set up for worhip by Rāmabhadra. After Rāmabhadra came Vāsudeva Sārvabhaum. He was the writter of a work on Nyāya which is now missing but is referred to in other works on Nyāya. Raghunātha Śiromaṇi, the writter of the celebrated "Dīdhiti" which, though calling itself a commentary on the chapters on anumāna (inference) in the Tattva-Cintāmaṇi, contains a great deal of valuable original matter, was a pupil of Vāsudeva Sārvabhauma, and according to tradition, a contemporary of Caitanya, the celebrated

Vaiṣṇava reformer. In his hands the system of Gaṅgeśa received its fullest development and from his time the fame of the Nadīyā school began to increase until at last the Mithilā's school was completely thrown into the shade, yeilding thus to its rival the place which it had formerly occupied. The naiyāyikas of Nadīyā have ever since maintained this position - a position recognised by paṇḍits all over India. After Raghunātha came in succession Bhavānanda Siddhāntavāgiśa, Mathurānātha Tarkavāgiśa, Jagadiśa Tarkālaṅkāra and Gadādhara Bhaṭṭācāryya. The descendants of the last have been distinguished Naiyāyikas, and the greatest living professor of Nyāya at Nadiyā, Mahāmahopāhyāya Bhuvana Mohana Vidyāratna, is the sixth in descent from Gadādhara. Another Bengali Naiyāyika, Kṛṣṇadāsa Sārvabhauma, but whether of Nadiyā or not is not known, wrote a commentary on the "Dīdhiti". named the "Dīhiti Prasāriṇi" of which a MS. copy written in saṃvat 1672 (Corresponding to the year 1615 of the Christian era) exists in the Government Sanskrit College in Calcutta.

All these Nadiyā writers wrote commentaries on the "Dīdhiti", Mathurānātha writing a full commentary on the Cintāmaṇi besides, and they enlarged the technical terminology of modern Nyāya. To give an example, the terms द्वि and द्वित्ववत् both imply duality, but while the former can never be predicated of a single individual the latter can. We cannot say, "अयं द्वौ" but can say "अयं द्वित्ववान्"so that द्वौ and द्वित्ववान् cannot have the same meaning. A distinction between the two meanings is made thus: The idea of

duality, as expressed by द्वि, requires for its completion (पर्याप्ति) an aggregate of two objects. Therefore द्वि cannot be predicated of a single object अयं। But the idea of duality, as expressed by द्वित्ववान् and meaning, "belonging to an aggregate of two", and therefore, not requiring for its completion the aggregate of two objects but requiring only one of them can be predicated of a single object अयं। The former class of predication is based on what is called पर्याप्तिसम्बन्ध (relation of completion), and the latter on समवायसम्बन्ध (ordinary relation between object an attribute).

The technicalities of modern Nyāya have hitherto repelled students of Sanskrit from its study. The immemorial practice has been for Naiyāyikas to explain verbally to their pupils the meaning of each term as it turns up in the course of their teaching, and the explanations are after certain set formulae. A book called the Nyāyakoṣa was brought out in Bombay by Bhimācārya Jhalakikar in 1875, and this book is a dictionary of the technical terms used in Nyāya. The explanations it gives are, however not full enough, and the work itself has not yet come to be generally known. I propose, therefore, in this paper to explain some of these technicalities, in simple Sanskrit as I cannot hope to be able to make matters equally clear through the medium of English. My method of interpretation is not the orthodox one usually followed by paṇḍits, which I have thought proper to abandon as it is not one calculated to make matters quite intelligible. I have had very little time to spare for writing this paper, Dr. Leitner's request

to me for a paper having come to me only on the 30th June Last. With more time at my disposal I would have made my paper fuller. I have not been able even to look over the proof-sheets carefully, owing to the serious and, as it has now proved, fatal illness of my eminent and revered friend Dr. Rājendralāla Mitra and paṇḍit Iśvarachandra Vidyāsāgara.

MAHEŚA CANDRA NYĀYARATNA
CALCUTTA
1/8/1891

[**Note :** I have just learnt from an eminent paṇḍit of Navadvīpa that Rāmbhadra Siddhāntavāgiśa, the commentator on Kusumāñjali was not the person who set up the image of Podāmā alluded to in p. 4 (5.). But that it was done by another person bearing the same name. There is no time now to ascertain the truth of the matter.]

नव्यन्यायदर्शनम्

तदीयपरिभाषासम्बन्धिनी संक्षिप्तविवृतिश्च

(आङ्गलभाषामयप्रस्तावनायाः संस्कृतानुवादः)

'न्याय' इति पदं 'नि' इत्युपसर्गपूर्वक-गमनार्थक- 'इ' धातोः 'अय' धातोर्वा करणवाच्ये विहितेन 'अ' प्रत्ययेन (घञ् प्रत्ययेन) निष्पन्नम्। इदञ्च निश्चितरूपेण क्वचित् सिद्धान्ते समुपस्थितेः पद्धतिं बोधयति। हिन्दुदर्शने (प्राच्यदर्शने) न्यायपदमिदं अनुमितेः (परार्थानुमितेः) साधकम् अवयवसमूहं विज्ञापयति। गौतम एव स प्राचीनतमो ग्रन्थकारः, यः किलैतदवयवसमूहात्म-कन्यायं विचारयामास। तदुपनिबद्धं गौतमसूत्रं तत्प्रदर्शितां पद्धतिमवलम्ब्य दार्शनिकतत्त्वसमूहं विचारयतां ग्रन्थकृतां ग्रन्था एव सर्वे न्यायदर्शननाम्ना परिचीयन्ते।

न्यायदर्शनं प्राचीनं नवीनञ्चेति प्रकारद्वयेन भिद्यते। प्राचीनन्यायदर्शनं न केवलं न्यायावयवानामेव विचारञ्चकार। (किन्तु) सर्वविधानां दार्शनिकानां प्राकृतानाञ्च प्रश्नगोचरीभूतानां वस्तूनामपेक्षानुसारं न्यायप्रयोगेण समालोचनां विदधे। नव्यन्यायोऽपि विचारगोचरेषु वस्तुषु प्राचीनन्यायेन समं विरोधं न पुष्णाति। तावतापि नव्यन्यायः स्वकीयं विचारं न्यूनसंख्यकेषु विषयेषु सीमितञ्चकार। किन्तु आलोचितेषु विषयेषु विचारस्तथा नैपुण्येन सूक्ष्मयाथातथ्येन च तेनोपन्यस्तो यथा प्राचीनन्याये नोपलभ्यते।

नव्यन्यायेन पदार्थसमूहस्य निर्दोषलक्षणविधान एव सातिशयं प्रयत्नं प्रवर्तयामास, तथा यानि पदानि नित्यं व्यवह्रियन्ते, (अविशेसेण च) गृहीतार्थानि भवन्ति, तेषामपि (विशेषेण) अर्थनिर्धारणे व्यापृतो बभूव। दृष्टान्तविधया तावदिदं शक्यमभिज्ञातुं यत्- 'साध्यनिदेशः प्रतिज्ञेति' (१-१-३३)। न्यायसूत्रे गोतमः 'प्रतिज्ञा' शब्दस्य उक्तरूपव्याख्यानादधिकव्याख्यानस्य प्रयोजनं नोपलेभे। पक्षिलस्वामी (न्यायसूत्रभाष्यकारवात्स्यायनः) तथा परे प्राचीनटीकाकृतः तादृशव्याख्याने न प्रयत्नं विदधिरे। किन्तु नव्यन्यायस्य प्रवर्तको गङ्गेशोपाध्यायः

प्रतिज्ञाशब्दस्यार्थमधिकृत्य विस्तृतालोचनायां प्रववृते। स स्वीयां मतिं वर्णयामास यथा– 'साध्यनिर्देशः' इत्येतन्मात्रं प्रतिज्ञाया निर्दोषं लक्षणं भवितुं नार्हति। यतः 'साध्यनिर्देश' इत्युक्त्या केवलमेकस्य साध्यस्य नामोल्लेखः प्रतिपत्तुं शक्यते। एवमन्येष्वपि विषयेषु दृष्टिं रक्षता तेन प्रतिज्ञायाः पुरो–निर्दिश्यमानरूपं लक्षणं निर्धारयामास।

यथा– 'उद्देश्यानुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वे सति उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनकं वाक्यम् (प्रतिज्ञा)'। रघुनाथशिरोमणिरतः परमपि लक्षणस्य समुत्कर्षं साधयित्वा प्राह– 'प्रकृतन्यायावयवत्वे सति प्रकृतानुमितिपक्षविशेष्यकप्रकृतानुमिति–साध्यप्रकारकप्रकृतानुमितिपक्षविशेष्यतानिरूपितप्रकृतसाध्यप्रकारताविलक्षण–विषयताशून्यशब्दज्ञानजनकं वाक्यं प्रतिज्ञा।" परस्मिन् काले च गदाधरभट्टाचार्यप्रभृतयः पूर्वसूरिगणापेक्षया समधिकविस्तरेण तद्वस्तुनः समालोचनां विधाय कतिपयसूक्ष्मतत्त्वानि आविष्कृत्य वक्ष्यमाणं सिद्धान्तं समासेदुः। यथा–"पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेदक–सम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकानुमितिप्रयोजकन्यायावयवत्वे सति पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धा–वच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकपक्षतावच्छेदकावच्छन्नविशेष्यतानिरूपित–साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताशालिनिश्चयत्वा–वच्छिन्नानिवर्त्यसंशयनिवर्तकतावच्छेदकविषयताशून्यशाब्दज्ञानजनकं वाक्यं प्रतिज्ञा।"

क्वचित् प्राचीनन्यायग्रन्थे 'अव्यभिचरितत्वं अविनाभावो वा व्याप्तिलक्षणमुक्तम्। गङ्गेशोपाध्यायो व्याप्तिलक्षणमिदमपर्याप्तं विचार्य वक्ष्यमाण–रूपेण स्वसम्मतं व्याप्तिलक्षणं प्रकाशयामास, यथा– 'प्रतियोग्यसमानाधिकरण–यत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः' इति।

अथ रघुनाथशिरोमणिः गङ्गेशकृतनिष्कृष्टव्याप्तिलक्षणमपि समुत्कर्षं साधयित्वा प्राह–"प्रतियोग्यसमानाधिकरणयद्रूपविशिष्टसमानाधिकरणात्यन्ता–भावप्रतियोगितानवच्छेदको यो धर्मः तद्धर्मावच्छिन्नेन येन केनापि समं सामानाधिकरण्यं तद्रूपविशिष्टस्य तद्धर्मावच्छिन्नयावन्निरूपिता व्याप्तिरिति।"

एवं रीत्या प्रतिपदार्थसम्बन्धि सूक्ष्मतमं विचारणमालोचनञ्चैव विशेषो नव्यन्यायस्य । प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः स्वल्पमात्रतैवास्य दोषः । अस्मिन् दोषे सत्यपि अस्य शिक्षणं बुद्धिवृत्तेः श्रेष्ठं शिक्षणम्, यस्याभ्यासेन बुद्धिः यथायथं चिन्ताया अमूल्यां शक्तिं समासादयति । नव्यन्यायशास्त्रस्याध्ययनमन्तरेण दर्शनस्मृत्यलङ्कारग्रन्थानां किंबहुना व्याकरणसम्बन्धिनामपि कतिपयग्रन्थानां संस्कृतभाषानिबद्धानामर्थाः सम्यक्तयावधारयितुमशक्याः । अत्र दृष्टान्तभूताः— आनन्दबोधकृतन्यायमकरन्दाख्यस्य वैदान्तिकग्रन्थस्य चित्सुखाचार्यकृता चित्सुखीत्याख्या टीका, हिन्दुपदवेद्यानामुत्तराधिकारविषयकस्मृतिग्रन्थस्य दायभागस्य श्रीकृष्णतर्कालङ्कारकृता दायभागप्रबोधिनीसमाख्या टीका, अलङ्कार-शास्त्रग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य महेश्वरन्यायालङ्कारकृता काव्यप्रकाशादर्शनाम्नी टीका, नागेशभट्टकृतः परिभाषेन्दुशेखरनामकः मञ्जुषानामकश्च व्याकरणग्रन्थ इत्येते ।

महर्षिगोतमस्य न्यायसूत्रम्, पक्षिलस्वामिकृतं तद्भाष्यम्, उद्द्योतकरा-चार्यकृतं तद्वार्त्तिकं, वाचस्पतिमिश्रकृता तात्पर्यटीका, उदयनाचार्यकृता तात्पर्यपरिशुद्धिटीका, इत्येते ग्रन्थाः प्राचीनन्यायान्तर्गताः ।

मुक्तावलीप्रमुखकतिपयग्रन्थव्यतिरेकेण वैशेषिकदर्शनस्य सर्व एव ग्रन्था एतद्वर्गान्तर्गताः कर्तुं शक्यन्ते ।

अनुमानगम्यचतुर्दशशतकप्रादुर्भूतगङ्गेशोपाध्यायात् प्रभृति सप्तदशशत-कान्तिमभागे जीवितं गदाधरं यावत् सकलग्रन्थकारविरचिता न्यायग्रन्था नव्यन्यायशास्त्रान्तर्गताः । गङ्गेशोपाध्यायो बिहारप्रान्तीयोत्तरपूर्वांशगतमिथिलापत्त-नाधिवासी आसीत् । स एव नव्यन्यायसम्प्रदायस्य प्रवर्तकः । तस्य ग्रन्थरत्नं तत्त्वचिन्तामणिर्नाम । यत्र गौतमसूत्रप्रतिपादितषोड्शपदार्थान्यतम-प्रमाणपदार्थः प्रतिपाद्यवस्तुरूपेण पर्यगृह्यत । तेन या पद्धतिः प्रवर्तिता सा तदीयशिष्यनिवहेषु पञ्चदशशतककालीनपक्षधरमिश्रपर्यन्तेषु समधिकां वृद्धिं लेभे । तेषु तस्य (गङ्गेशोपाध्यायस्य) पुत्रो वर्धमानोपाध्यायोऽप्यवर्तिष्ट । पक्षधरमिश्रः श्रीगङ्गेशकृतस्य तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थस्य आलोकनाम्नीं टीकां रचयामास । पक्षधरस्य समयपर्यन्तं नव्यन्यायस्य समनुशीलनं मिथिलानगर्यामेव नियमित-मासीत् । तत्रैव च सर्वभारतीयनव्यन्यायशिक्षार्थिनः समवेता बभूवुः । मिथिलानगर्यास्तत्सम्प्रदायसिद्धविद्यानुशीलनं पक्षधरमिश्रोत्तरकालादेव क्रमेण

अवनतिं गन्तुमारेभे । पक्षधरमिश्रकृत आलोकग्रन्थ एव नव्यन्यायसम्बन्धिनः तत्सम्प्रदायस्य (मैथिलनव्यन्यायसम्प्रदायस्य) अन्तिम आदर्शग्रन्थः । तथापि मिथिलायां नव्यन्यायस्यानुशीलनं प्रचलद्रूपमवर्तत । नाद्यापि च तद्विलोपमवाप ।

प्रसङ्गतः शक्यमिदमभिधातुम् यत् गङ्गेशस्य तदनुयायिनाञ्च ग्रन्थनिवहाः न्यायानुशीलने महान्तं विप्लवं जनयामासुः । भाष्यवार्त्तिकादि-प्राचीनन्याय-ग्रन्थानां स्थानञ्च तथा समधिचक्रुः येन वर्तमानविदुषां सकाशे प्राचीनन्यायतन्त्रस्य ग्रन्था अपि सुतरामल्पमात्रा एव समुपलभ्यन्ते ।

मिथिलापत्तनाद् नव्यन्यायस्यालोचना नदीयाप्रान्तगते नवद्वीपे प्रससार । ये विद्यार्थिनो मिथिलायां नव्यन्यायमधिजगिरे त एव नवद्वीपे स्वकीयशिष्यवर्गं नव्यन्यायमध्यापयितुमारेभिरे । सर्वतः प्रथमं येन नवद्वीपे नव्यन्यायतन्त्रस्या-ध्यापना प्रारब्धा तस्य पण्डितप्रकाण्डस्य नाम नावधारितमभूत् । किन्तु नवद्वीपसम्बन्धिनः प्रथमन्यायग्रन्थप्रजापतेः श्रीरामभद्रसिद्धान्तवागीशस्य किञ्चन वृत्तं वयं निश्चितमुपलभामहे । स उदयनाचार्यकृत-'कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थस्य टीकामेकां रचयामास । 'पोड़ा मा'-(विदग्धजननीं) नामविश्रुता कालीमूर्तिः श्रीरामभद्रेण नवद्वीपधाम्नि प्रतिष्ठिताभूत् । एकदा वह्निदग्धतया (तस्याः) मातुः 'पोड़ा मा' इति (प्राकृतं) नाम समजनि । नवद्वीपपरित्यागात् पूर्वं तस्याः 'पोड़ा मा' समाख्याया नियमेन पूजां समपादयन् ।

श्रीरामभद्रात् परतः श्रीवासुदेवसार्वभौमस्य प्रादुर्भावः समघटत । सोऽपि न्यायशास्त्रीयग्रन्थं रचयाञ्चक्रे । यस्याधुना सत्यपि विलोपे न्यायशास्त्रीय-ग्रन्थान्तरेषु समुल्लेखो वर्तते ।

सुप्रसिद्धाया दीधितिटीकाया रचयिता श्रीरघुनाथशिरोमणिस्तस्य वासुदेव सार्वभौमस्य (साक्षात्) शिष्य आसीत् । स यद्यपि दीधितिमिमां तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थस्य टीकात्वेन व्यपदिष्टवान् तथाप्यत्र तेन अनेके स्वतन्त्रा उत्कृष्टा विषया विचारिताः ।

प्रवादसिद्धमिदम्— यद् रघुनाथशिरोमणिः सुविश्रुतवैष्णवधर्माचार्यस्य श्रीचैतन्यदेवस्य समकालीन आसीदिति । तेनैव गङ्गेशप्रवर्तितो नव्यन्यायश्चरमां परिपुष्टिं लेभे । तस्यैव समयाच्च नदीयागतनैयायिकसम्प्रदायस्य ख्यातिस्तथा क्रमशो वृद्धिमाससाद यथा स मिथिलायाः सम्प्रदायं परिम्लानमज्ञातमिव च

प्रकर्तुं प्रववृते। ततः प्रभृत्येव नवद्वीपसम्बन्धिनो नैयायिकास्तेषां तदुन्नतस्थानस्य परिरक्षणपरा वर्तन्ते, यद्भारतीयानामखिलविदुषां सम्मतमस्ति।

रघुनाथात् परं क्रमेण भवानन्दसिद्धान्तवागीशः, मथुरानाथतर्कवागीशः, जगदीशतर्कालङ्कारः, गदाधरभट्टाचार्यश्च प्रादुर्बभूवुः । गदाधरभट्टाचार्यस्य वंशधराः सुप्रसिद्धनैयायिकाः अभवन्। नवद्वीपे सम्प्रति जीवितः प्रधाननैया-यिकाध्यापकः श्रीभुवनमोहनविद्यारत्नो गदाधरभट्टाचार्यात् प्रभृति गणनया षष्ठः पुरुषः ।

कृष्णदाससार्वभौमो नामापरः कश्चिद् बङ्गीयो नैयायिकः, यो नवद्वीपसम्बन्धी स्थितो न वेति न शक्यते ज्ञातुम्, सः दीधितिप्रसारिणीं नाम दीधितेरेकां टीकां रचयामास । १६७२ संवत्वर्षे (खृः १६१५) हस्तेन लिखिता तस्या एका प्रतिलिपिः कलिकातास्थ-राष्ट्रियसंस्कृतमहाविद्यालये विद्यते।

प्रागुक्ता (भवानन्दप्रमुखाः) नवद्वीपग्रन्थकाराः दीधितेः व्याख्यां रचयामासुः । मथुरानाथस्तु तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थस्य निःशेषां टीकां प्रणिनाय। त एते नव्यन्यायस्य परिभाषाया अपि वृद्धिम् उत्कर्षञ्च संसाधयामासुः । तत्रोदाहरणमुदाह्रियते यथा—द्विशब्दः द्वित्ववत् शब्दश्चेति द्वयमेव द्वित्वसंख्यायुक्तपदार्थं बोधयति। तत्र प्रथमः शब्दः (द्विशब्दः) कमप्येकं पदार्थमुद्दिश्य न प्रयुक्तो भवितुमर्हति। किन्तु द्वितीयः शब्दः (द्वित्ववत्शब्दः) कमप्येकं पदार्थमुद्दिश्य प्रयुक्तो भवितुमर्हति । न वयमेवं प्रयोक्तुमर्हामो यत् 'अयं द्वाविति'। (दृश्यमानः एकः पदार्थो द्वाविति) किन्तु वयमर्हामः प्रयोक्तुम् 'अयं द्वित्ववानिति (दृश्यमान एकः पदार्थो द्वित्वविशिष्ट इति) । अतः 'द्वौ' इति पदस्य द्वित्ववानिति पदस्य च नार्थः सर्वथा तुल्यः । उक्तपदद्वयस्य पारस्परिकमर्थगतं पार्थक्यमेवं सम्पादितमस्ति। तथाहि द्विशब्दस्यार्थो यत् द्वित्वं तस्य पर्याप्त्यर्थं द्वयोर्वस्तुनोः स्थितिरपेक्षिता। अतएव एकमात्रे 'अयं' पदार्थे द्विपदार्थ-द्वित्वस्य विधेयतया प्रयोगो भवितुं नार्हति । किन्तु द्वित्ववत्पदस्यार्थो यत् द्वित्वं तत् द्वयोः पदार्थयोरेव (प्रत्येकमपि) स्थातुमर्हति। तस्य पर्याप्तिसम्पादनाय नोभयेन स्थातव्यम्। अतः एतत् (द्वित्ववत्पदप्रतिपाद्यं) द्वित्वं द्वयोः प्रत्येकमेव तिष्ठतीति कृत्वा एकमात्रं पदार्थमुद्दिश्यापि 'अयं द्वित्ववान्' इत्येवं प्रयोगो भवितुमर्हति । प्रथमस्थले ('द्वौ' इत्येवं द्विशब्देन द्वित्वप्रतिपादनस्थले) यो विधेयतया द्वित्वस्य प्रयोगः स पर्याप्तिसम्बन्धेन ।

द्वितीयस्थले (द्वित्ववत्पदेन द्वित्वस्य प्रतिपादनस्थले) द्वित्वस्य प्रयोगः समवायसम्बन्धेनाभिप्रेतः ।

नव्यन्यायस्य परिभाषागतं दुरुहत्वम् एतावत्कालं यावत् संस्कृतविद्यार्थिनः नव्यन्यायशास्त्राध्ययनान्निवर्तयामास। नैयायिकानां चिरन्तनीयं रीतिर्यदध्ययनकाले पदेषु समुपस्थितेषु सत्सु मौखिकभावेन तानि विद्यार्थिनो बोधयति । तच्च बोधनं कतिपयनिर्दिष्टपद्धतिमाश्रित्यैव। १८७५ पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादशशततमखृष्टाब्दे भीमाचार्यझालाङ्किकरमहोदयेन मुम्बयीप्रदेशे न्यायकोशाभिधान एको ग्रन्थो मुद्रापितोऽभूत् । ग्रन्थोऽयं न्यायसम्बन्धिपारिभाषिकशब्दानामभिधानग्रन्थः । किन्तु तत्र निहितानि व्याख्यानानि न प्रकामं पर्याप्तानि। ग्रन्थश्चायं नाद्यापि सर्वैः सुपरिज्ञातोऽस्ति। अतोऽहमेतस्मिन् निबन्धे तेषां दुरूहपारिभाषिकशब्दस्तोमानां मध्ये कतिपयशब्दानां व्याख्यानं कर्तुमैच्छम्। यतश्च आङ्गलभाषया विषयाणां तेषां सर्वेषां याथातथ्येन परिष्करणं नार्हामि सम्भावयितुं ततः सुगमसंस्कृतभाषयैव तत् करिष्यामि । परं मदीयव्याख्यानपद्धतिः न साधारणपण्डितगणानुसृता प्राचीनपद्धतिः, यतः तया प्राचीनपद्धत्या प्रतिपाद्यविषयाः सुष्ठु नोपलभ्यन्ते इति मत्वा तस्याः प्राचीनपद्धतेः परित्यागः समुचित इति मनस्यकरवम् । एतन्निबन्धरचनार्थमनुरोधः डाः लिटनार सकाशात् व्यतीते जुलाइमासस्य त्रिंशदिवस एव मया लब्धः। अतः एतत्प्रणयनाय मया स्वल्पमात्रक एव कालः परिप्राप्तः । यद्येतदपेक्षया किञ्चिदधिकं समयं प्राप्स्यं तदा निबन्धमिममितोऽप्याधिक्येन पूर्णतां लम्भयितुमपारयिष्यम् । मम परमश्रद्धेयमित्रस्य डाः राजेन्द्रलालमित्रस्य तथा पण्डितप्रवरस्य ईश्वरचन्द्रविद्यासागरस्य गुरुतरेणास्वास्थ्येनान्ते मारात्मकतया प्रमाणितेन नाहमस्य प्रुफ्पत्राणामपि यथायथं संशोधनं कर्तुमपारयम्।

अनुवादकः

श्रीकालीपदतर्काचार्यः **महेशचन्द्रः न्यायरत्नः**

सम्पादकस्य

प्राथमिक-भारती

प्रथमत एव वृन्दारकवृन्दप्रमुखवन्दनीयपदारविन्दां सकलकल्याण-कल्पलतां भगवतीं भारतीं रतिमता मनसा प्रकामं नमस्कृत्य किञ्चिदपेक्षितमप्रपञ्चं निवेदयामः।

के वा नाभिजानन्ति विद्वज्जनसमाजे समासादितमहिमानं महामहोपाध्याय-पदलाञ्छनं कोविदकुलरत्नं संस्कृतविद्यासमृद्धये नियतमनुबद्धप्रयत्नं श्रीमन्महेश-चन्द्रन्यायरत्नम्, येन सुप्रसिद्धेन गीर्वाणवाणीनिबद्धविद्याबान्धवेन कलिकाताराज-कीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षपदमध्यासीनेन संस्कृतविद्यायाः सान्वयाभ्युदय-प्रचयसाधनाय प्रवर्तिता संस्कृतशास्त्रेषु विद्यार्थिनां प्रथमपरीक्षा मध्यमपरीक्षा चेति सम्प्रति निःसम्परायं प्रचलद्रूपा प्राथमिकसंस्कृतपरीक्षाद्वयी, प्रवर्तितश्चो-पाधिपरीक्षोत्तीर्णानामेकरूप एव तीर्थेत्युपाधिः शास्त्रविशेषाणां विशेषनामानुषङ्गेण। सुविश्रुतश्चास्य विद्वन्मुकुटमणेः श्रीमन्मम्मटकृतकाव्यप्रकाशीयमाहेशीसमाख्य-व्याख्यासङ्कलनादिसूचितो निरवद्यसंस्कृतविद्याविभवः। स एव न्यायादिदर्शन-शास्त्रेष्वपि प्रेक्षावतां प्रवीणः शास्त्रान्तरविलक्षणनवीनपरिभाषानिबद्धनव्य-न्यायशास्त्रे सुगमसरण्यानन्यसाधारण्या विद्यावनीयकानामबाधबोधसंसिद्धये न्यायतन्त्रीयकतिपयपारिभाषिकपदानां समयादिसमावेदकं कञ्चन नवीनग्रन्थं जग्रन्थ। यत्र प्रकृतग्रन्थकारेण तत्तत्पारिभाषिकपदपरिभाषितानामर्थविशेषाणां तथा सरलसरण्या कृतं स्वरूपादिनिरूपणं यथा सुतरामल्पधियोऽप्यनायासेन तत्तदर्थेषु विशदं विज्ञानमासाद्य सद्य एव लब्धकामा भवितुमर्हन्ति।

किञ्चात्र निबन्धे निबन्धकारेण बहुत्रैव तादृशान्युदाहरणानि समुपन्यस्तानि, यानि लोकेष्वायतानि स्वल्पबुद्धिभिरपि शक्यानि सुखेनैव प्रतिपत्तुम्। तस्मादयं ग्रन्थस्तर्कशास्त्रीयविलक्षणपरिभाषासु विज्ञानशून्यानां तत्र तत्र विशेषज्ञानसञ्जनन-द्वारा तर्कतत्त्वसमीक्षणसरण्यामनन्यसामान्यमुपकारं करिष्यतीत्यत्र नास्ति लेशोऽपि सन्देहस्य।

ग्रन्थोऽयं विद्यार्थिगणानुजिघृक्षया सुचिरात् पूर्वं ग्रन्थकृता न्यायरत्नेनैव प्रथमं मुद्रापणमकारि । मुद्रापितस्य तस्य कतिचन खण्डाः कलिकातास्थ-राष्ट्रियसंस्कृतमहाविद्यालये समुपलभ्यन्ते । तेऽपि स्वल्पमात्रा एव खण्डाः सुजीर्णप्रतिपत्राः कथञ्चिदेव रक्षितास्तद्ग्रन्थागाराधिकृतैः पुरुषैः । तेषां साम्प्रतमीदृशी दशा समजनि, यया नातिचिरादुत्तरमेव तेषां विलयः सम्भाव्यते । यदि तावदद्यापि सुतरां जीर्णपर्णानामशक्याक्षरपाठानां करतलस्पर्शमात्रमप्य-सहमानानां तेषां साहायकेन केनापि ग्रन्थस्यास्य पुनः संस्करणं कृतं स्यात् तदैवास्य न्यायविद्याप्रवेशार्थिनामत्युपकारकस्य ग्रन्थस्य संरक्षणेन संस्कृतविद्या नितरामुपकृता स्यात् । तदेतत् सर्वं सावधानं परिचिन्त्य संस्कृतविद्यायामति-प्रसिद्धेन सुदीप्तप्रतिभानेन कोविदकुलपयोधिसुधाकरेण श्रीमद्विष्णुपदभट्टा-चार्येण कलिकाताराष्ट्रियसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षपदमधिष्ठितवता ग्रन्थस्य तस्य पुनः संस्करणे मनो व्यधायि । विद्यार्थिनां बोधसौकर्याय समादिष्टाश्च वयं बङ्गभाषया तदर्थविवरणार्थम् । वयमपि तदादेशवशीकृता एव ग्रन्थस्यास्य बङ्गभाषयैव यथामूलमनुवादं मूलरहस्यादिनिवेदनाय च तयैव भाषया 'सुप्रभा' समाख्यां काञ्चन व्याख्यां रचितवन्तः, यदुभयमस्मिन् संस्करणे समेषां दृष्टिपथमुपेयात् ।

तत्र सुप्रभाख्यायां व्याख्यायां मूलाधिकारेणास्माकं विशेषतो वक्तव्यानि सर्वाणि वस्तूनि समुपन्यस्तानि । यथासम्भवं विषयविशेषेषु तत्तद्वस्तुसाम्य-वैषम्यादिनिवेदनाय पूर्वाचार्यमतान्यपि संगृह्य सन्निवेशितानि । समुद्धृताश्च तत्र तत्र प्रकृतार्थपराः सन्दर्भविशेषाः पूर्वाचार्याणाम् । येन समीक्षकास्तत्तदर्थेषु निष्कम्पप्रत्ययसम्पर्कं सम्प्राप्य परितृप्येयुः । प्रस्तुता चात्र संस्करणे काचन सुविस्तृता विषयसूची, यदवलम्बनेन समीक्षकाः स्वाभिमतं विषयमनायासेन प्रपद्येरन् ।

अत्र ग्रन्थे मूलकारेण ये न्यायशास्त्रीयपारिभाषिकशब्दाः व्याख्येयत्वेन परिगृहीताः तद्व्यतिरिक्ताः अपि केचन सुप्रसिद्धास्ते परिशिष्टप्रकरणरूपेण किञ्चित् स्वतन्त्रं प्रकरणं प्रकृत्य तत्रास्माभिः समासेन व्याख्याताः । यदनुषङ्गेण ग्रन्थस्यास्य साङ्गतासङ्गतिमूलो न्यूनतापरिहारः सम्भविता ।

यद्यपि ग्रन्थकारेण ग्रन्थस्यास्य किमपि संस्कृतभाषामयं नाम नोपदिष्टं तथापि तदुक्तस्य 'BRIEF NOTES ON THE MODERN NYĀYA

SYSTEM OF PHILOSOPHY AND ITS TECHNICAL TERMS' –इत्याङ्गलभाषामयवाक्यविशेषस्यानुसारेण 'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' इत्येव संस्कृतभाषामयं नाम विहितमस्माभिः, विवृतेरपि तदनुगतं नाम सुप्रभेति।

यद्यप्यत्र ग्रन्थे व्याख्यानार्थमुपात्तेषु पदेषु धर्मादयः केचन शब्दा न केवलं नव्यन्यायसम्बन्धिन एव तथापि तेषामर्थविवरणस्य नव्यन्यायनयमाश्रित्यैव कृतत्वेन 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायेन च नास्य प्रकृतनामार्थ–सङ्गतिर्विघटते।

अत्र ग्रन्थसंस्करणकर्मणि गवेषणाविभागीयविद्वत्प्रवरेण श्रीमता दीनेश–चन्द्रतर्कतीर्थभट्टाचार्येण ग्रन्थस्यास्य प्रारम्भिकाङ्गलभाषामयं ग्रन्थकारकृतमावेदनं बङ्गभाषयानूद्य तथा ग्रन्थप्रकाशविभागीयविद्वद्वरश्रीननीगोपालतर्कतीर्थ–श्रीचित्तरञ्जनतर्कतीर्थाभ्यां बहुधा कृतेन साहायकेन तेषां समीपे महत्या कृतवेदितया समावर्जिता वयं श्रीश्रीभगवत्पदान्तिके तेषां कल्याणं कामयामहे।

श्रीकालीपदतर्काचार्यस्य॥

❖ नव्यन्यायभाषाप्रदीपस्य विषयानुक्रमः

	पृष्ठाङ्कः
‘धर्म’ पदस्य व्याख्या।	३
जातेः स्वरूपम्।	७
सखण्डोपाधेः स्वरूपम्।	११
अखण्डोपाधेः स्वरूपम्।	११
जात्यखण्डोपाध्योर्मध्ये भेदकथनम्।	१९
सम्बन्धस्य प्रयोजनम्।	२६
साक्षात्सम्बन्धस्य व्याख्या।	२८
समवायसम्बन्धस्य निरूपणम्।	३४
स्वरूपसम्बन्धस्य निरूपणम्।	३४
परम्परासम्बन्धस्य व्याख्या तथा रहस्यम्।	३९
वृत्तिनियामकसम्बन्धस्य व्याख्या।	४६
वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य व्याख्या।	४८
कालिकसम्बन्धस्य निरूपणम्।	५१
पर्याप्तिसम्बन्धस्य निरूपणम्।	५४
सम्बन्धस्यैकः प्रतियोगी अपरश्चानुयोगी भवतीति कथनम्।	६४
वृत्तिताऽधिकरणतयोः सापेक्षत्वप्रतिपादनम्।	६७
अभावस्यापि एकः प्रतियोगि अपरश्चानुयोगी भवतीति नियमः।	७४
एकेन सम्बन्धेन वर्तमानस्यापि सम्बन्धान्तरेणाभावः भवतीति नियमः।	७९
प्रतियोगिता केनचित् सम्बन्धेन केनचिद्धर्मेण चावच्छिन्ना भवति।	८३

सम्बन्धस्य प्रतियोगीतावच्छेदकत्वस्वीकारे युक्तिः । ८५
धर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वीकारे युक्तिः । ९१
नियामक एव अवच्छेदकः । ९२
एकस्याभावस्य बहूनि प्रतियोगीनि सन्तीति कथनम् । १०१
अभावोऽपि व्याप्यवृत्तिरव्याप्यवृत्तिश्च भवति । १०५
अन्योन्याभावस्य निरूपणम् । ११०
संसर्गाभावस्य निरूपणम् । ११०
सापेक्षधर्मा अपि केनचित् सम्बन्धेन केनचिद्धर्मेण चावच्छिन्ना भवन्ति । ११७
निर्विकल्पकज्ञानस्य स्वरूपम् । १२९
सविकल्पकज्ञानस्य स्वरूपम् । १३०
विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानस्य स्वरूपम् । १३०
सिद्धविशेषणस्य निरूपणम् । १३१
साध्यविशेषणस्य निरूपणम् । १३१
विधेयस्य विधानं क्वचित् विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन
क्वचिच्च विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन भवति । १३१
प्रकारता विशेष्यता च मुख्या कदा भवति ? १४२
निश्चयस्य स्वरूपम् । १४७
संशयस्य स्वरूपम् । १४७
समूहालम्बनस्य संशयात् भेदकथनम् । १४७
उत्कटैककोटिकः संशय एव सम्भावनेति प्रतिपादनम् । १४८

NAVYANYĀYA-BHĀṢĀPRADĪPAḤ

नव्यन्यायभाषाप्रदीपः

सटीकः सानुवादः

सुप्रभाटीकालङ्कृतः

नव्यन्यायभाषाप्रदीपः

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[नव्य.१] धर्मः,-ध्रियते तिष्ठति वर्तते यः, स धर्मः । आकाशादिकं विना सर्व एव पदार्था यत्र कुत्रचिदपि वर्तन्त इति सर्व एव धर्मा इत्युच्यन्ते । यत्र यो वर्तते, स तस्य धर्मः । यथा-द्रव्ये जातिगुणकर्माणि तिष्ठन्तीति जातिगुणकर्माणि द्रव्यस्य धर्माः । सूत्रादौ अवयवे पटादि अवयविद्रव्यं तिष्ठतीति द्रव्यमपि पटादि सूत्रादेर्धर्मः । पात्रे जलं वर्तत इति पात्रस्य धर्मो जलम् । आकाशादिकन्तु न कुत्रापि वर्तत इति आकाशं न कस्यापि धर्मः । अत एव आकाशम् 'अवृत्तिपदार्थ' इत्युच्यते ।

❊ सुप्रभा ❊

[सुप्रभा.१] धर्मशब्दो यथाधेयपदार्थस्य तथैव स्वर्गादेः कारणस्य शुभादृष्टस्य तदधिष्ठातृदेवताविशेषस्याप्युपस्थापकः । अत एव प्रोक्तधर्मस्य माङ्गलिकत्वात् तदर्थकेन धर्मशब्देन ग्रन्थारम्भे ग्रन्थकृतावश्यककर्तव्यत्वेन मङ्गलाचरणमपि सिद्धमिति ध्येयम् ।

[सु.२] 'धृय् अवस्थाने' इति तुदादिधातुगणोक्तात् धृधातोः (मनिन्प्रत्यये) कर्तृवाच्ये धर्मपदं निष्पन्नम् । एतदेव मूलेन ध्रियते-तिष्ठति इत्येतत्पदद्वयोपादानेन सूचितम् ।

[सु.३] यः पदार्थः येन सम्बन्धेन यस्मिन् आधारे तिष्ठति स पदार्थस्तेनैव सम्बन्धेन तस्याधारस्य धर्मः भवतीति ज्ञेयम् । भिन्नसम्बन्धेन स तस्य धर्मो न भवति । यथा द्रव्यत्वजातिः समवायसम्बन्धेन द्रव्ये तिष्ठति, न तु संयोगेन

दैशिकस्वरूपसम्बन्धेन वा। अतः द्रव्यत्वं समवायसम्बन्धेन द्रव्यस्य धर्मः न तु संयोगसम्बन्धेन दैशिकस्वरूपसम्बन्धेन वा। अत एव 'यत्र यो वर्तते, स तस्य धर्मः' इति मूलांशस्य 'यो येन सम्बन्धेन यत्र वर्तते, स तेन सम्बन्धेन तस्य धर्मः' इत्यर्थे तात्पर्यमिति ध्येयम्।

[सु.४] मूले 'आकाशादिकं विना' इत्यत्रादिपदेन कालदिगात्ममनांसि तथा क्षित्यप्तेजोमरुतां चतुर्णां परमाणुस्वरूपाणि नित्यद्रव्याणि ग्राह्याणि। महामनीषिविश्वनाथन्यायपञ्चाननमहाभागविरचिते कारिकावलीग्रन्थे 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य, आश्रितत्वमिहोच्यते' इति कारिकांशद्वारा पूर्वोक्तविषय एव सूचितः।

[सु.५] 'आकाशादिकं विना' इत्यारभ्य 'आकाशमवृत्तिपदार्थ इत्युच्यते' इति ग्रन्थान्तं यावत् मूलं यथाश्रुतेन सम्बन्धसामान्येनैवाकाशादेः नित्यद्रव्य-जातस्यावृत्तित्वं प्रतिपादयति। तन्मतं सिद्धान्तलक्षणस्य दीधितिटीकायां रघुनाथशिरोमणिमहाभागेनापि गृहीतम्।

[सु.६] अन्यस्मिन् मते आकाशादिनित्यद्रव्यजातं संयोगसमवाया-दिसम्बन्धेनावृति सदपि कालिकसम्बन्धेन वृत्तिमत्। पूर्वोक्तसिद्धान्तलक्षण-ग्रन्थस्य दीधितिटीकायाः 'स्वरूपेण गगनादेर्वृत्तिमत्त्वे तु' इत्यादिना ग्रन्थांशेन तथा तद्ग्रन्थांशस्य जागदीशटीकायाः "कालस्य जगदाधारत्वप्रवादमनुसृत्याह-स्वरूपसम्बन्धेनेति, कालिकविशेषणतया इत्यर्थः। गगनादेरवृत्तित्वप्रवादस्तु संयोगसमवायपरः" इति ग्रन्थांशद्वारा प्रोक्तमतं सूचितं भवति।

[सु.७] विश्वनाथन्यायपञ्चाननमहाभागोऽपि 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः, आश्रितत्वमिहोच्यते' इति कारिकावलीग्रन्थांशस्य सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायाः 'आश्रितत्वन्तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्, विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृतेः' इत्यंशेन प्रोक्तमतं सूचितवान्। तन्मतानुसारं 'आकाशादिकन्तु' इत्यादिना मूलग्रन्थांशेनोपदिष्टमाकाशादिनित्यद्रव्याणामवृत्तित्वं कालिकविशेषण-ताभिन्नेन समवायादिसम्बन्धेनैव ज्ञेयम्। कालस्य जगदाधारताप्रयोजककालिक-सम्बन्धेन गगनादिनित्यद्रव्यजातमपि धर्मः इत्येव तदंशस्य सिद्धान्तः।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.१] जो धारण किया जाता है अथवा जो स्थिर रहता है, जो रहता है, वह धर्म है। आकाश आदि को छोड़कर सभी पदार्थ कहीं न

कहीं रहते हैं । इसलिए वे सभी पदार्थ धर्म कहे जाते हैं । जहां-जिस आधार में जो पदार्थ रहता है, वह पदार्थ उस आधार का धर्म है । जैसे द्रव्य में जाति, गुण और कर्म रहते हैं, इसलिये जाति, गुण और कर्म द्रव्य के धर्म हैं । तन्तु आदि अवयव में पट आदि अवयवी द्रव्य रहता है, अतः पट आदि अवयवी द्रव्य तन्तु आदि अवयव के धर्म हैं । पात्र में पानी रहता है, अतः पानी पात्र का धर्म है । आकाशादि पदार्थ तो कहीं भी नही रहते हैं, अतः आकाशादि पदार्थ किसी के भी धर्म नहीं है । इसी कारण से आकाश 'अवृत्तिपदार्थ' कहा जाता है ।

[सु.१] 'धर्म'-यह शब्द जैसे आधेय पदार्थ का स्मारक हैं, वैसे ही स्वर्ग आदि के कारण शुभादृष्ट अर्थात् पुण्य स्वरूप अदृष्ट तथा स्वर्ग आदि के अधिष्ठाता ऐसे देवता-विशेष का भी स्मारक होता है । इस कारण से ही ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा गया धर्म शब्द माङ्गलिक होने के कारण, माङ्गलिक अर्थक धर्म शब्द से ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार के द्वारा आवश्यक कर्तव्य के रूप में मङ्गलाचरण की भी सिद्धि होती हैं - ऐसा समझना चाहिए ।[१]

[सु.२] 'धृय् अवस्थाने' इस प्रकार तुदादि धातु-गण में कहे गये अवस्थानार्थक धृ धातु से कर्तृवाच्य मनिन् प्रत्यय करने पर 'धर्म' - यह पद निष्पन्न होता है । मूलग्रन्थ के 'ध्रियते' और 'तिष्ठति' इन दोनों पदों से - 'धर्म' शब्द अवस्थान अर्थ में हैं - यही बात सूचित की गई है ।

[सु.३] जो पदार्थ जिस सम्बन्ध से जिस आधार में रहता है, वह पदार्थ उस सम्बन्ध से ही उस आधार का धर्म बनता है । उससे भिन्न सम्बन्ध से वह पदार्थ उस आधार का धर्म नहीं बनता है । जैसे द्रव्यत्व जाति समवाय नामक सम्बन्ध से द्रव्य में रहती है, किन्तु संयोगसम्बन्ध अथवा दैशिकस्वरूपसम्बन्ध से नहीं रहती है । इस कारण से 'द्रव्यत्व' समवायसम्बन्ध से द्रव्य का धर्म है, न कि संयोगसम्बन्ध अथवा दैशिकस्वरूपसम्बन्ध से । इसी कारण से 'जहाँ जो रहता है, वह उसका धर्म है' - इस मूलग्रन्थ की पंक्ति का - 'जो (पदार्थ) जिस सम्बन्ध से जहाँ रहता है, वह (पदार्थ) उस सम्बन्ध से उस (आधार) का धर्म है' - इस अर्थ में तात्पर्य जानना चाहिए ।

[सु.४] मूल में 'आकाशादिकं विना' यहाँ 'आदि' पद से - काल, दिशा, आत्मा तथा मन को और पृथ्वी, अग्नि और वायु इन चारों के परमाणु स्वरूप

नित्यद्रव्यों को ग्रहण करना चाहिए। (अर्थात् आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के परमाणु – इतने पदार्थ किसी के भी धर्म नहीं हैं। इनको छोड़कर सभी पदार्थ कहीं न कहीं रहते हैं, अतः ये सभी 'धर्म' कहे जाते हैं।) महामनीषि विश्वनाथ न्यायपञ्चानन द्वारा विरचित कारिकावली ग्रन्थ के अंतर्गत – 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' आश्रितत्वमिहोच्यते' इस कारिकांश के द्वारा भी यही बात सूचित की गई है। (इस कारिकांश का अर्थ यह है कि – 'नित्यद्रव्यों से भिन्न सभी पदार्थों का साधर्म्य = समान धर्म 'आश्रितत्व' है। अर्थात् नित्यद्रव्य किसी में आश्रित नहीं होते, जब कि अनित्यद्रव्य कहीं न कहीं अवश्य आश्रित होते हैं।)

[सु.५] 'आकाशादिकं विना' यहाँ से लेकर 'आकाशमवृत्तिपदार्थ इत्युच्यते' यहाँ तक का मूलग्रन्थ यथाश्रुत से सम्बन्धसामान्य (= सभी सम्बन्ध) के द्वारा आकाशादि नित्यद्रव्यों के अवृत्तित्व का प्रतिपादन करता है। वह मत सिद्धान्तलक्षण की दीधिति टीका में रघुनाथशिरोमणि के द्वारा भी ग्रहण किया गया है।

[सु.६] अन्य मत में आकाशादि नित्यद्रव्य संयोग–समवायादिसम्बन्ध से न रहते हुए भी कालिकसम्बन्ध से वृत्तिमान् हैं। पूर्व में कहे गये सिद्धान्तलक्षण की दीधिति टीका के – 'स्वरूपेण गगनादेर्वृत्तिमत्त्वे तु' – इस अंश से तथा इस ग्रन्थांश की जागदीशीटीका के – 'कालस्य जगदाधारत्वप्रवादमनुसृत्याह – स्वरूपसम्बन्धेनेति, कालिकविशेषणतया इत्यर्थः। गगनादेरवृत्तित्वप्रवादस्तु संयोगसमवायपरः'–इस अंश के द्वारा यही मत सूचित किया गया है। उक्त टीका के अंश में कहा गया है कि 'काल जगत का आधार होता है, इस प्रकार के अनादिकालीन प्रवाद का अनुसरण करके कहते हैं कि – स्वरूपसम्बन्ध अर्थात् कालिकविशेषणता नामक सम्बन्ध से (–आकाशादि नित्यद्रव्य भी वृत्तिमान् हैं।) गगनादि नित्यद्रव्यों का अवृत्ति होने का प्रवाद तो संयोग और समवाय परक है अर्थात् संयोग तथा समवाय सम्बन्ध से गगनादि नित्यद्रव्य अवृत्ति होते हैं, किन्तु कालिकसम्बन्ध से वे द्रव्य वृत्तिमान् हैं।[२]

[सु.७] विश्वनाथ न्यायपञ्चानन महोदय भी 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः, आश्रितत्वमिहोच्यते' इस कारिकावलीग्रन्थ के अंश की सिद्धान्तमुक्तावलीटीका में–'आश्रितत्वन्तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्, विशेषणतया नित्यानामपि

कालादौ वृत्तेः' (= आश्रित होने का अर्थ है – समवायादि सम्बन्ध से वृत्तिमान होना, न किसी भी सम्बन्ध से। क्योंकि कालिकविशेषणता नामक सम्बन्ध से नित्यद्रव्य भी कालादि में वृत्ति होते हैं।) – इस अंश से उसी मत को सूचित किया गया है। उस मत के अनुसार 'आकाशादिकन्तु' इत्यादि मूलग्रन्थ के द्वारा आकाशादि नित्यद्रव्यों का जो अवृत्तित्व प्रतिपादित किया गया है, वह कालिकविशेषणता से भिन्न समवायादि सम्बन्ध से ही जानना चाहिये। काल में स्थित जगदाधारता के प्रयोजक कालिकसम्बन्ध से गगनादि नित्यद्रव्यों का समुदाय भी (काल में रहने के कारण) धर्म है। ऐसा उक्त ग्रन्थांश का तात्पर्य है।

❊ टिप्पणी ❊

१. किसी भी ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगलाचरण करना चाहिए यह शिष्ट पुरुषों का आचार है। ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगलाचरण करने से विघ्नों का नाश होता है और निर्विघ्न रूप से ग्रन्थ की समाप्ति होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगलाचरण का अभाव है ऐसा प्रतीत होता है। अतः यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में शिष्टपुरुषों के आचरण के अनुरूप मंगलाचरण क्यों नहीं किया गया है ? इस शंका के समाधान के लिए टीकाकार ने यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द से किस तरह मंगलाचरण की सिद्धि होती है यह बताया है।

२. आकाश को किस सम्बन्ध के द्वारा अवृत्तिपदार्थ कहा जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत उपस्थित होते हैं। प्रथम मत यह है कि आकाश सभी सम्बन्धों से आवृत्ति होती है किन्तु दूसरा मत ऐसा भी है कि आकाश कालिक से अतिरिक्त संयोग-समवाय आदि सम्बन्धों के द्वारा अवृत्ति पदार्थ है। ये दो मत तथा इन दोनों मतों का समर्थन किन-किन ग्रन्थों में है – इसकी स्पष्टता टीका के ५-६-७वें खण्ड में की गई है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२] धर्मश्च प्रथमतो द्विविधः, जातिरुपाधिश्चेति । येन परस्परं विभिन्नरूपाणामपि एकजातीयद्रव्याणामेकश्रेण्यामन्त-र्भावो भवति, स धर्मो जातिः । यथा-विभिन्नदेशीया मनुष्या विभिन्नाकाररूपस्वभावा अपि एकया मनुष्यत्वजात्या एक-

श्रेण्यामन्तर्भाविताः । जातिश्च सामान्यं नाम कणादोक्तश्चतुर्थः पदार्थः ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.८] परं सखण्डाखण्डभेदेनोपाधिरूपधर्मस्य प्रकारभेदो वर्णितो भविष्यति इति कृत्वा (धर्मश्चेति) मूले 'प्रथमतः' इत्येतदुक्तम् ।

[सु.९] एकजातीयद्रव्याणामिति मूलांशे द्रव्यपदं द्रव्यगुणकर्म-रूपत्रितयवस्तुपरम्, यतः प्रकृतजातिपदेन द्रव्यगतं द्रव्यत्वादिजातिमात्रमेव न विवक्षितमपितु गुणकर्मगता गुणत्वकर्मत्वजातिरपि विवक्षिता ।

[सु.१०] येन परस्परमित्यादि मूलग्रन्थः जातेर्न लक्षणपरः, यतस्तस्य 'एकजातीयत्व'घटितत्वेनात्माश्रयादिर्दोषो भवति । स तु केवलं जातेः स्वरूपपरिचायकः ।

[सु.११] जातिपदार्थस्य धर्ममात्रत्वे उपाधावतिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्य पुनः 'जातिश्च' इत्यादिना विशेषेण जातेः स्वरूपं निर्दिदेश ।

[सु.१२] प्राचीनग्रन्थकृतः प्रकारान्तरेण तस्या जातेः स्वरूपं वर्णयामासुः । यथा नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यमिति । अर्थाद्यः एको धर्मः नित्यः सन् अनेकवस्तुषु समवायसम्बन्धेन वर्तते सैव जातिः । अन्यञ्च लक्षणं 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यत्वम्' इति (मुक्तावल्याम्) । अर्थात् यो धर्मः नित्यः सन् नैकेषु समवायसम्बन्धेन वर्तते स एव सामान्यं जातिर्वा एवमन्यान्यपि लक्षणानि सन्ति ।

[सु.१३] संयोगविभागौ गुणौ समवायसम्बन्धेन एकाधिके प्रतियोग्यनुयोगि-पदार्थद्वये तिष्ठतः । अतस्तत्रातिव्याप्तिनिवृत्तये प्रथमलक्षणे 'नित्यमिति', द्वितीयलक्षणे 'नित्यत्वे सती'त्यनयोर्निवेशः कृतः । गगनपरिमाणादावतिव्याप्ति-वारणायानेकपदोपादानं कृतम् । अत्यन्ताभावे अभावत्वादौ च धर्मेऽतिव्याप्ति-वारणाय समवायसम्बन्धेन वृत्तित्वस्य निवेशः कृतः ।

[सु.१४] महर्षिकणादः यथाक्रमं 'द्रव्यं गुणः कर्म सामान्यं विशेषः समवायः इत्येतान् षट् पदार्थान् वर्णयामास । क्रमानुसारं तेषु सामान्यं जातिर्वा चतुर्थः पदार्थः । अत एव कणादप्रोक्तश्चतुर्थपदार्थः जातिरित्येवंरूपेणापि विनायासमेव जातेः स्वरूपं वर्णयितुं शक्यते ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२] धर्म के सर्वप्रथम दो भेद होते हैं, एक जाति और दूसरा उपाधि। परस्पर विभिन्न स्वरूपवाले द्रव्यों का जिस धर्म के कारण एक ही श्रेणि में अन्तर्भाव होता है वह धर्म जाति है। जैसे अलग अलग आकार, स्वरूप और स्वभाव वाले विभिन्न देश के मनुष्यों का एक मनुष्यत्व जाति के द्वारा एक श्रेणि में अन्तर्भाव हो जाता है। महर्षि कणाद के द्वारा बताया गया चतुर्थ पदार्थ जो सामान्य है वही जाति है।

[सु.८] बाद में सखण्ड एवं अखण्ड के भेद से उपाधिरूप धर्म के दो प्रकार वर्णित किये जायेंगे–ऐसा जानकर मूल में 'प्रथमतः' ऐसा कहा गया है। अर्थात् प्राथमिक रूप से धर्म के दो प्रकार हैं – जाति और उपाधि।

[सु.९] 'एकजातीयद्रव्याणाम्' इस मूलांश में जो 'द्रव्य' पद हैं, वह द्रव्य, गुण और कर्म – इन तीन पदार्थों का उपलक्षक है। क्योंकि प्रकृत में जाति पद से द्रव्य में स्थित द्रव्यत्वादि जाति मात्र विवक्षित नहीं हैं, किन्तु गुण और कर्म में स्थित गुणत्व और कर्मत्व जाति भी विवक्षित हैं।

[सु.१०] 'येन परस्परम्' इत्यादि जो मूलग्रन्थ है वह जााति का लक्षणपरक नहीं है, किन्तु मात्र जाति का स्वरूपपरिचायक हैं। क्योंकि इस मूलग्रन्थ को लक्षणपरक माने तो 'एकजातीयत्व'–इस पद से घटित होने के कारण उस लक्षण में आत्माश्रय आदि दोष होते हैं।[३]

[सु.११] जातिपदार्थ का धर्ममात्रपरक अर्थ करने पर उपाधि में अतिव्याप्ति होगी–ऐसी शङ्का होने पर, जाति का विशेष स्वरूप बताते हुए 'जातिश्च' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा कहा गया है कि–'जाति सामान्य को कहते हैं। वह सामान्य कणाद के द्वारा उक्त चतुर्थ पदार्थ है।

[सु.१२] प्राचीन ग्रन्थकारों ने अन्य प्रकार से जाति के स्वरूप का वर्णन किया है। जैसे– नित्य, एक और अनेकों में अनुगत 'सामान्य' होता है। अर्थात् जो एक धर्म नित्य होते हुए अनेक वस्तुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है वही जाति है। इसी लक्षण को शब्दान्तर से मुक्तावली में 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यत्वम्'–इस प्रकार दिया गया है। इस लक्षण का अर्थ भी ऊपर कहा गया है वही है। इस प्रकार अनेक लक्षण हैं।

[सु.१३] संयोग और विभाग ये दो गुण समवायसम्बन्ध से एक से अधिक – प्रतियोगी और अनुयोगी – इन दो पदार्थों में रहते हैं। यहाँ जाति के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिये प्रथम लक्षण में 'नित्यं' और द्वितीय लक्षण में 'नित्यत्वे सति' इस पद का निवेश किया गया है। गगनपरिमाण आदि में अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'अनेक' पद का उपादान किया गया है। अत्यन्ताभाव में और अभावत्व आदि धर्म में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'समवायसम्बन्धेन वृत्तित्व' इस पद का निवेश किया है।[४]

[सु.१४] महर्षिकणाद ने वैशेषिक सूत्र में क्रम से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों का वर्णन किया है। उनमें क्रम के अनुसार सामान्य अथवा जाति चौथा पदार्थ हैं। इसी कारण से–'कणाद के द्वारा कहा गया चौथा पदार्थ जाति है'–इस प्रकार बिना प्रयत्न ही जाति के स्वरूप का वर्णन किया जा सकता है।

❊ टिप्पणी ❊

३. आत्माश्रय दोष का लक्षण इस प्रकार है – 'स्वज्ञाने स्वज्ञानापेक्षितत्वम् आत्माश्रयत्वम्' – अर्थात् किसी पदार्थ का ज्ञान करने में उसी पदार्थ के ज्ञान की आवश्यकता हो तो उसे आत्माश्रय दोष कहा जाता है। प्रस्तुत स्थल में जाति का ज्ञान कराने के लिए जाति का लक्षण दिया गया है। उस जाति के लक्षण में भी 'जाति' शब्द का उपयोग किया गया है। अतः यहाँ आत्माश्रय दोष आता है।

४. जाति के लक्षण में तीन शर्त बताई गई है – (१) जो नित्य हो (२) जो अनेक जगह रहता हो (३) जो समवाय सम्बन्ध से रहता हो। – इन तीन शर्तों में से एक भी शर्त को लक्षण में से निकाल दिया जाय तो कहाँ अतिव्याप्ति होगी वह इस टीकांश में बताया गया है। (१) संयोग और विभाग अनेक जगह रहते हैं और समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। किन्तु वे नित्य नहीं है अतः उन में जाति के लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए प्रथम शर्त का निवेश किया गया। (२) गगनपरिमाण नित्य है तथा समवाय सम्बन्ध से गगन में रहता है। किन्तु वह अनेक आधारों में नहीं रहता है। अतः गगनपरिमाण में जाति के लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए द्वितीय शर्त का समावेश किया गया है। (३) अत्यन्ताभाव तथा अभावत्व धर्म नित्य है तथा अनेक जगह रहते हैं किन्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते हैं। अतः अत्यन्ताभाव तथा अभावत्व धर्म

में जाति के लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए लक्षण में तृतीय शर्त को जोड़ा गया।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.३] उपाधिरपि पुनः सखण्डोपाधिरखण्डोपाधिश्चेति द्विविधः। खण्डेन (अंशेन) सह वर्तत इति सखण्डः। यश्च अंशतो विभक्तुं शक्यते स सखण्डोपाधिर्धर्म इति यावत्। यथा-पशुत्वम्। तद्धि लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वम्। ततश्च तस्य लोम-लाङ्गूलादयोऽंशा बहवो वर्तन्त इति द्रव्यरूपं पशुत्वं धर्मः सखण्डोपाधिः। एवं रूपवानयमित्यत्र गुणात्मकं रूपं धर्मः। स च सखण्डोपाधिः। रूपत्वजातेराश्रयो हि रूपम्। ततश्च रूपस्य रूपत्वजातिराश्रयश्चेति अंशद्वयमस्ति।

यस्य अंशविशेषो नास्ति मनुष्यत्वद्रव्यत्वादिजातिवत्, यस्तु अंशतो विभक्तुं न शक्यते, अंशरहितत्वमेव यस्य स्वरूपमङ्गी-क्रियते, स अखण्डोपाधिः। यथा भावत्वम्। तद्धि अभावत्व-विरोधि कश्चन धर्म इति। पशुत्वादिवत् भावत्वमंशतो विभक्तुं न शक्यते।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.१५] प्रोक्तस्य सखण्डाखण्डप्रकरणस्यायमेव निकृष्टार्थो यत् अंशभेदेन विभागयोग्यः धर्मः सखण्डस्तथांशभेदेन विभागायोग्यो धर्मोऽखण्डधर्मः। किन्तु तथा स्वीकारे द्रव्यत्वादिधर्मोऽपि तस्य शब्देनोल्लिख्यमानत्वदशायां द्रव्यत्वत्वादिधर्मविशिष्टरूपेण प्रतीतो भवति। तदा रूपवानयम् इत्यादौ मूलदर्शितरूपाद्युदाहरणस्येव उक्तस्य द्रव्यत्वादिधर्मस्यापि द्रव्यत्वत्व-द्रव्यत्वभेदाभ्यां विभागयोग्यत्वात् सखण्डपदवीमुपैति। अत एव सखण्डा-खण्डधर्मयोस्तथा स्वरूपनिरुपणम् आपाततः सरलपद्धत्या कथञ्चित् सखण्डा-खण्डधर्मयोः परिचायकमिति मन्तव्यम्।

[सु.१६] अत्रायं विशेषलक्षणीयविषयो हि मूलस्थांशशब्देन प्रकार-

विशेष्यरूपांशभेदमादाय 'शब्दद्वारानुल्लिखितदशायां यः धर्मः प्रकार–विशेष्यांशभेदेन विभागायोग्यो भवति, स एवाखण्डधर्मः, तद्भिन्नो धर्मः सखण्डधर्मः भवति' इत्येवंरूपेण व्याख्याते पूर्वोक्तो दोषो निवारितो भवितुमर्हति। यतः शब्दद्वारानुल्लिखितद्रव्यत्वादिधर्मांशे कस्यापि धर्मस्य प्रकारताभावात् प्रकारविशेष्यरूपांशभेदेन तस्य विभागायोग्यत्वात् सोऽखण्डः न तु तद्भिन्नः। कल्पोऽयं जगदीशादीनां मतसम्मतप्रायः।

[सु.१७] प्राचीनाचार्यैः प्रकारान्तरेण सखण्डाखण्डधर्मयोः स्वरूपनिरूपण–मकारि। यथा तत्त्वचिन्तामणौ सामान्यलक्षणाप्रकरणस्य दीधितिव्याख्यायाष्टी–कायां जगदीशतर्कालङ्कारोऽलिखत् 'सखण्डं स्वरूपतो ज्ञानप्रकारीभूतभिन्नम्, अखण्डं स्वरूपतः प्रकारीभूतम्' इति। अर्थात् ज्ञाने यो धर्मः निरवच्छिन्नरुपेण प्रकारीभूतः न भवति स एव धर्मः सखण्डधर्मः। अपरतः यो धर्मः ज्ञाने स्वरूपतः अर्थात् निरवच्छिन्नरूपेण प्रकारीभूतं भवति सोऽखण्डधर्मः। पशुत्वं रूपादिश्च धर्मः कदापि निरवच्छिन्नरूपेण ज्ञाने प्रकारीभूतः न भवति, अतस्ते सर्वे धर्माः सखण्डाः।

[सु.१८] अनुल्लिख्यमानाखण्डोपाधिजातिभिन्नस्य पदार्थस्य भानं सप्रकारकमेव भवति। अनुल्लिख्यमानजात्यखण्डोपाधिभानं स्वरूपतोऽर्थात् निष्प्रकारकं भवति इति नियमानुसारं 'द्रव्यं भावः' इत्यादिप्रतीतिस्थले द्रव्यत्वभावत्वादिधर्मः ज्ञाने स्वरूपतोऽर्थात् निरवच्छिन्नरूपेणैव भासितो भवति। तदंशे कोऽपि धर्मः विशेषणरूपेण न भासते। अत एव जगदीशोक्त–पूर्वलक्षणानुसारं द्रव्यत्वभावत्वादिधर्मोऽखण्डधर्मः। द्रव्यत्ववान् भावत्ववान् इत्यादिरूपेणोल्लिख्यमानजात्यखण्डोपाधिस्थले द्रव्यत्वजातेस्तथा भावत्वोपाधेश्च स्वरूपतो ज्ञाने प्रकारीभूतत्वाभावेऽपि, अनुल्लिख्यमानतादशायां ज्ञाने स्वरूपतः प्रकारीभूते तस्मिन् धर्मे व्याप्यवृत्तेः तादृशप्रकारीभूतभेदस्य स्थातुमशक्यत्वात् तादृशसखण्डताया अतिप्रसक्तिर्नैव भवति। परन्तु अनुल्लिख्यमानतादशायां स्वरूपतः प्रकारत्वमादायाखण्डताया एवोपपत्तिर्भवति।

[सु.१९] सामान्यलक्षणाग्रन्थस्य दीधितिप्रकाशटीकायां भवानन्दसिद्धान्त–वागीशमहोदयोऽवदत् 'सखण्डं प्रत्येकम् अनेकावृत्तित्वे सति अनेकवृत्तिता–वच्छेदकानुगतरूपावच्छिन्नं वह्निमत्त्वादिकम्। अखण्डम् अनेकवृत्ति एकम्' इति। अर्थात् यो धर्मः प्रत्येकं व्यक्तिरूपेण अनेकवस्तुषु अवर्तमानोऽपि

अनेकवृत्तितावच्छेदकानुगतरूपावच्छिन्नो भवति स वह्निमत्त्वादिधर्मः सखण्डधर्मः । अपरतश्च यो घटत्वादिरूप एक एव धर्मः विभिन्नाधिकरणे वर्तते सोऽखण्डधर्मः । वह्न्यादिधर्मः व्यक्तिरूपेण बहुरपि सन् वह्नित्वाद्येकै-कानुगतधर्मरूपेणानेकाधिकरणे वर्तमानो भवति । अत एव स वह्न्यादिधर्मः सखण्डलक्षणाक्रान्तः । घटत्वजातिरेकापि अनेकघटव्यक्तिषु वर्तमाना । अत एव साऽखण्डलक्षणाक्रान्ता । वह्नित्वघटत्वादिरूपाखण्डधर्मेषु प्रोक्तसखण्ड-लक्षणस्यातिव्याप्तिनिवारणाय उक्तलक्षणे 'प्रत्येकमनेकावृत्तित्वे सति' इति सत्यन्तभागः निविष्टः । रूपत्रयादि स्वनिष्ठत्रित्वादिरूपानुगतरूपावच्छिन्नं तथा प्रत्येकतोऽनेकावृत्ति । अत एव तत्र रूपत्रयादौ धर्मे सखण्डलक्षणस्याति-व्याप्तिवारणाय अनुगतरूपांशेऽनेकवृत्तितावच्छेदक' इत्यंशस्य निवेशः कृतः । एकैकस्यां तत्तद्रूपव्यक्तौ अखण्डलक्षणस्यातिव्याप्तिनिराशायाखण्डलक्षणेऽ-नेकवृत्ति इति निवेशितम् । वह्न्यादयः वह्नित्वादिरूपेण नानाव्यक्तिवृत्तयो भवन्ति । अतस्तत्रातिव्याप्तिवारणाय एकमिति अखण्डलक्षणे प्रदत्तम् ।

[सु.२०] मूलकारः भावत्वरूपं धर्मम् अभावत्वविरोधिधर्मत्वेनाकथयत् । तत्राभावत्वपदस्यार्थः भावभिन्नत्वमित्यवधेयम् । अन्यथा लाघवानुरोधेन येऽत्यन्ताभावस्य अभावं प्रतियोगिस्वरूपत्वेन, अन्योन्याभावस्याभावञ्च प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपत्वे स्वीकुर्वन्ति, तेषां नये घटादिरूपभावपदार्थ-स्यात्यन्ताभावाभावत्वेन घटादेः भावपदार्थस्वरूपत्वात्तथा घटादेः अन्योन्या-भावाभावस्य घटत्वादिभावपदार्थस्वरूपत्वात् स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपमभावत्वं भावत्वविरोधिधर्मः भवितुं नार्हति । ये तावत् अत्यन्ताभावस्य अभावन्त-थान्योन्याभावस्याभावमतिरिक्ताभावपदार्थत्वेन स्वीकुर्वन्ति तेषां नये प्रागुक्तविरोधित्वे उपपन्नेऽपि तदुभयमतसाधारणं न भवति । अत एव प्रोक्तमभावत्वं भावपदार्थावृत्ति भावभिन्नत्वेनैवावधयेम् । तेनोभयमतानुसारं मूलग्रन्थस्योपपत्तिः भवति ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.३] उपाधि के भी दो भेद होते हैं, एक सखण्ड उपाधि और दूसरी अखण्ड उपाधि । खण्ड यानी अंश के साथ रहता हो वह सखण्ड उपाधि धर्म है । अंश से जिसका विभाग हो सकता है वह सखण्डोपाधि धर्म है । जैसे-पशुत्व । वह पशुत्व लोमलाङ्गूलवत्त्व रूप है । क्योंकि

पशुत्व धर्म के लोम-लाङ्गूल आदि अनेक अंश होते हैं। अतः द्रव्य स्वरूप पशुत्व धर्म सखण्डोपाधि है। इसी प्रकार 'रूपवाला यह...' यहाँ गुणस्वरूप 'रूप' धर्म है, वह सखण्डोपाधि है। रूपत्व जाति का आश्रय रूप है। अतः रूप के रूपत्व जाति और और उसका आश्रय रूप - ये दो अंश हैं।

मनुष्यत्व द्रव्यत्व आदि जाति की तरह जिस का अंश विशेष नहीं होता है, जिसका अंश के द्वारा विभाग नहीं हो सकता और अंश रहित होना ही जिसका स्वरूप स्वीकार किया जाता है वह अखण्डोपाधि धर्म है। जैसे-भावत्व। यह अभाव का विरोधी धर्म है। जिस तरह पशुत्व आदि धर्मों का अंश से विभाग किया जाता है, उस तरह भावत्वधर्म अंश से विभक्त नहीं किया जा सकता।

[सु.१५] ऊपर कहे गये सखण्ड और अखण्ड उपाधि के प्रकरण का निकृष्टार्थ यही है कि-जो धर्म अंश के भेद से विभाग के योग्य हो वह धर्म 'सखण्ड' तथा जो धर्म अंश के भेद से विभाग के योग्य नहीं हो वह धर्म 'अखण्ड' है। परन्तु पूर्वोक्त कथन को उसी प्रकार स्वीकार करने पर एक आपत्ति आयेगी। द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व धर्म का भी द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व शब्द से उल्लेख करने पर क्रमशः द्रव्यत्वत्व, गुणत्वत्व और कर्मत्वत्व से विशिष्ट रूप में भान होता है। तब जिस प्रकार मूल में दर्शित 'रूपवानयम्' इत्यादि उदाहरण में रूप को रूपत्वजाति और उस जाति का आश्रय रूप-इन दो अंशों से विभाग के योग्य मानकर उस रूप गुण को सखण्ड धर्म माना गया था, उसी प्रकार द्रव्यत्व धर्म का भी द्रव्यत्वत्व और द्रव्यत्व इन दो भेदों से (तथा गुणत्व धर्म का गुणत्वत्व और गुणत्व इन दो भेदों से और कर्मत्व धर्म का कर्मत्वत्व और कर्मत्व इन दो भेदों से) विभाग के योग्य होने से द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व आदि धर्मों को भी सखण्ड धर्म मानने की आपत्ति आयेगी। इस कारण से सखण्डधर्म और अखण्डधर्म के स्वरूप का जो निरूपण इस प्रकरण में किया गया है, वह किसी तरह सरल पद्धति से सखण्ड और अखण्ड धर्म के स्वरूप का परिचायक ही है, किन्तु लक्षण नहीं है। ऐसा जानना चाहिए।

[सु.१६] यहाँ इस विषय पर विशेष ध्यान देने योग्य है कि मूल में स्थित 'अंश' शब्द से प्रकाररूप अंश और विशेष्यरूप अंश के भेद को ग्रहण करके मूलोक्त पंक्ति (जो अंश के द्वारा विभाग के योग्य हो वह सखण्ड धर्म और

विभाग के योग्य न हो वह अखण्ड धर्म कहलाता है-) का अर्थघटन यदि इस प्रकार करते हैं कि - 'शब्द के द्वारा उल्लेख न होने की दशा में जो धर्म प्रकार और विशेष्य रूप अंश के भेद से विभाग के योग्य नहीं होता है वह अखण्ड धर्म है तथा उससे भिन्न जो विभाग के योग्य होता है वह सखण्ड धर्म है।' - तो पूर्व में उक्त द्रव्यत्व आदि जाति को भी सखण्ड धर्म मानने की आपत्ति का निवारण किया जा सकता है। क्योंकि शब्द द्वारा उल्लेख न होने की दशा में द्रव्यत्वादि धर्म में किसी भी धर्म का प्रकार रूप में भान नहीं होता है। अतः प्रकार और विशेष्य रूप अंश के भेद से विभाग के योग्य नहीं होने के कारण द्रव्यत्वादि धर्म अखण्ड है किन्तु उससे भिन्न अर्थात् सखण्ड नहीं है। यह कल्प जगदीश आदि आचार्यों के द्वारा सम्मत है।

[सु.१७] प्राचीन आचार्यों ने अन्य प्रकार से सखण्ड एवं अखण्ड धर्म के स्वरूप का निरूपण किया है। जैसे तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ के सामान्यलक्षणाप्रकरण की दीधिति टीका की जागदीशी टीका में जगदीश तर्कालङ्कार महोदय ने लिखा है कि - 'सखण्ड स्वरूपतः ज्ञानप्रकारीभूत से भिन्न होता है तथा अखण्ड स्वरूपतः प्रकारीभूत होता है' - अर्थात् ज्ञान में जो धर्म स्वरूपतः प्रकारीभूत नहीं होता है वह सखण्ड धर्म है और जो धर्म स्वरूपतः प्रकारीभूत होता है वह अखण्ड धर्म है। ज्ञान में स्वरूपतः प्रकारीभूत होने का मतलब है, ज्ञान में निरवच्छिन्न रूप से प्रकार रूप में भासित होना। पशुत्व और रूप आदि धर्म कभी भी ज्ञान में निरवच्छिन्न रूप से प्रकार रूप में भासित नहीं होते हैं। इसलिये पशुत्व, रूप आदि सभी धर्मों को सखण्ड धर्म कहा जाता है।

[सु.१८] जिसका शब्द से उल्लेख न किया गया हो एसी जाति तथा अखण्डोपाधि से अन्य सभी पदार्थों का ज्ञान सप्रकारक अर्थात् प्रकार से सहित ही होता है। शब्द से उल्लेख न किया गया हो ऐसी जाति तथा अखण्डोपाधि का भान स्वरूपतः अर्थात् निष्प्रकारक (= प्रकार से रहित) होता है। इस नियम के अनुसार 'द्रव्य भाव है' इत्यादि विषयक प्रतीति के स्थल में द्रव्यत्व और भावत्व आदि धर्म ज्ञान में स्वरूपतः अर्थात् निरवच्छिन्न (= निष्प्रकारक) रूप से भासित होते हैं। उस द्रव्यत्व-भावत्व आदि धर्म के अंश में कोई भी अन्य धर्म विशेषण रूप से भासित नहीं होता है। (क्योंकि द्रव्यत्व जाति का तथा भावत्व रूप अखण्डोपाधि का शब्द से उल्लेख नहीं किया गया है) इसी कारण

से जगदीश तर्कालङ्कार के द्वारा कहे गये लक्षण के अनुसार द्रव्यत्व और भावत्व आदि धर्म अखण्ड धर्म हैं। 'द्रव्यत्ववान्' 'भावत्ववान्'–इस प्रकार जहाँ जाति और अखण्डोपाधि धर्म का शब्द से उल्लेख किया गया हो ऐसे स्थल पर द्रव्यत्वजाति तथा भावत्व उपाधि का भान ज्ञान में स्वरूपतः अर्थात् निष्प्रकारक रूप में न होने पर भी, जब इन धर्मों का शब्द से उल्लेख न किया गया हो ऐसी दशा में ये धर्म ज्ञान में स्वरूपतः अर्थात् निष्प्रकारक रूप में ही भासित होते हैं। और तब द्रव्यत्व और भावत्व धर्म में व्याप्यवृत्ति ऐसे स्वरूपतः प्रकारीभूतभिन्नत्वधर्म = स्वरूपतः प्रकारीभूतभेद का अभाव होता है। क्योंकि तब = अनुल्लिख्यमानदशा में इन धर्मों में 'स्वरूपतः प्रकारीभूतत्व' रहता है। इस कारण से उक्त द्रव्यत्व जाति तथा भावत्व उपाधि में सखण्डता की अतिव्याप्ति नहीं होती हैं। किन्तु (द्रव्यत्व जाति तथा भावत्व उपाधि का) शब्द से उल्लेख न होने की दशा में वे धर्म ज्ञान में 'स्वरूपतः (= निरवच्छिन्न रूप से) प्रकार रूप में भासित होते हैं'–इस बात को ग्रहण करके उन दोनों धर्मों में अखण्डता की ही संगति होती है अर्थात् द्रव्यत्व जाति तथा भावत्व उपाधि अखण्ड धर्म हैं–ऐसा सिद्ध होता है।

[सु.१९] सामान्यलक्षणाग्रन्थ की दीधितिप्रकाशटीका में भवानन्द सिद्धान्तवागीश महोदय ने कहा है कि – 'जो स्वयं एक ही धर्म अनेक में न रहते हुए, अनेक अधिकरण से निरूपित वृत्तिता के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न हो वह वह्नि आदि धर्म सखण्ड धर्म कहलाता है तथा जो धर्म स्वयं एक होते हुए भी अनेक अधिकरणों में रहे वह अखण्ड धर्म कहलाता है।' अर्थात् जो धर्म प्रत्येक व्यक्ति स्वरूप से अनेक वस्तुओं में भले ही न रहता हो किन्तु अनेक अधिकरणों से निरूपित वृत्तिता के अवच्छेदक स्वरूप अनुगत धर्म से अवच्छिन्न होता हो वह वह्नि आदि धर्म सखण्ड धर्म है और जो घटत्व आदि एक ही धर्म अनेक अधिकरणों में रहता हो वह अखण्ड धर्म है। वह्नि आदि धर्म व्यक्ति रूप से अनेक होता हुआ भी उन प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से रहे हुए वह्नित्व आदि धर्म के द्वारा अनेक अधिकरण में रहता है। इसलिये वह्नि आदि धर्म में सखण्ड का लक्षण संगत होता है। घटत्व जाति तो स्वयं एक ही होते हुए भी अनेक घटव्यक्तियों में रहती है। अतः उसमें अखण्ड का लक्षण संगत होता है। यदि 'अनेकवृत्तितावच्छेदकानुगतरूपावच्छिन्नं' इतना ही

सखण्ड का लक्षण रखें तो यह लक्षण वह्नित्व, घटत्व आदि अखंड धर्मों में भी चला जाता। उसका निवारण करने के लिये सखण्ड के लक्षण में 'प्रत्येकमनेकावृत्तित्वे सति' इस अंश का निवेश किया गया है। रूपत्रय आदि धर्म अपने में रहे हुए त्रित्व स्वरूप अनुगत धर्म से अवच्छिन्न हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति रूप से अनेकों में अवृत्ति होते हैं। इसलिये रूपत्रय आदि धर्म में सखण्ड के लक्षण की अतिव्याप्ति होती हैं। उसका निवारण करने के लिए 'अनुगतरूप' इस अंश में 'अनेकवृत्तितावच्छेदक' इस पद का निवेश किया है।[५] यदि 'एकम् अखण्डं' इतना ही अखण्ड धर्म का लक्षण किया जाये तो प्रत्येक तत् तत् रूप में अतिव्याप्ति हो जाती। अतः अखण्ड के लक्षण में 'अनेकवृत्ति' इस पद का निवेश किया गया है। यदि 'अनेकवृत्ति अखण्डम्' केवल ऐसा ही अखण्डधर्म का लक्षण करें तो वह्नि आदि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वह्नि आदि धर्म भी वह्नित्व आदि धर्म के द्वारा अनेक स्थलों पर वृत्ति होते हैं। उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये अखण्डधर्म के लक्षण में 'एकं' यह पद दिया गया है।[६]

[सु.२०] मूलकार ने 'भावत्व' धर्म को 'अभावत्व' के विरोधि धर्म के रूप में कहा है। वहाँ 'अभावत्व'-पद का अर्थ 'भावभिन्नत्व'-ऐसा जानना चाहिए। (अब 'भावत्व' का अर्थ-'अभावत्व धर्म का विरोधि'-ऐसा न होकर-'भाव पदार्थ से भिन्न धर्म का विरोधि' ऐसा होगा।) यदि इस प्रकार 'अभावत्व' का 'भावभिन्नत्व' ऐसा अर्थ नहीं करेंगे तो, जो लोग लाघव के अनुरोध से अत्यन्तभाव के अभाव को प्रतियोगी स्वरूप और अन्योन्याभाव के अभाव को प्रतियोगितावच्छेदकधर्म स्वरूप स्वीकार करते हैं, उनके मत में घटादि रूप भावपदार्थ के अत्यन्ताभाव का अभाव जो घटादि हैं, वह भावपदार्थ स्वरूप है तथा घटादि के अन्योन्याभाव का अभाव जो घटत्वादि धर्म है वह भी भावपदार्थ स्वरूप है। अतः उनके मत में स्वरूपसम्बन्धात्मक 'अभावत्व' भावत्व का विरोधि धर्म नहीं हो सकता। जो लोग अत्यन्ताभाव के अभाव को तथा अन्योन्याभाव के अभाव को अतिरिक्त (=स्वतंत्र) अभावपदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके मत में भावत्व धर्म अभावत्व का विरोधि सिद्ध होता है। फिर भी यह व्याख्या (-कि भावत्व अभावत्व का विरोधि है-) दोनों मतों को सम्मत नहीं होगी। इसी कारण से 'अभावत्व' धर्म को भावपदार्थ में नहीं रहने वाले 'भावभिन्नत्व' धर्म के रूप में जानना चाहिये। ऐसा करने से दोनों मतों के अनुसार[७] मूलग्रन्थ की संगति हो जाती है।

❊ टिप्पणी ❊

५. सखण्ड के लक्षण में दो शर्तें हैं – (१) जो प्रत्येक अनेक जगह न रहता हो (२) जो अनेक अधिकरणों से निरूपित वृत्तिता के अवच्छेदक ऐसे धर्म से अवच्छिन्न हो। यदि प्रथम शर्त को निकाल दिया जाय तो बाकी का लक्षण वह्नित्व, घटत्व आदि अखण्ड धर्मों में भी घटित होता है। क्योंकि वे धर्म अनेक अधिकरणों से निरूपित वृत्तिता के अवच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न होते हैं। अतः उन धर्मों में सखण्ड के लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए प्रथम शर्त जोड़ी गई है। यदि द्वितीय शर्त में से 'अनेक (अधिकरणों से निरूपित) वृत्तिता के अवच्छेदक' – इस अंश को निकाल दें तो रूपत्रय आदि धर्म में सखण्ड का लक्षण घटित हो जायेगा। क्योंकि रूपत्रय आदि धर्म प्रत्येक अनेक जगह नहीं रहता है तथा रूपत्रय धर्म अपने में स्थित त्रित्व रूप अनुगत धर्म से अवच्छिन्न है। अतः रूपत्रय आदि धर्म में सखण्ड के लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए द्वितीय शर्त में 'अनेक (अधिकरणों से निरूपित) वृत्तिता के अवच्छेदक' – इस अंश को जोड़ा गया है।

६. अखण्ड के लक्षण में दो शर्तें है – (१) जो अनेक अधिकरणों में रहता हो (२) जो एक हो। यदि प्रस्तुत लक्षण में से प्रथम शर्त को निकाल दें तो किसी भी प्रत्येक एक एक धर्म में अखण्ड का लक्षण घटित हो जायेगा। क्योंकि अखण्ड धर्म को छोड़कर सखण्ड धर्म भी ऐसे होते हैं जो स्वयं एक हो। अतः उन में अखण्ड के लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए प्रथम शर्त जोड़ी गई है। यदि लक्षण में से द्वितीय शर्त को निकाल दें तो वह्नि आदि धर्म में भी लक्षण घटित हो जायेगा। क्योंकि वह्नि आदि धर्म भी वह्नित्व धर्म के द्वारा अनेक अधिकरणों में रहते हैं। अतः उन में अखण्ड के लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए द्वितीय शर्त जोड़ी गई।

७. यहाँ जिन दो मतों की चर्चा की गई है – उन दोनों मतों को संक्षेप में इस तरह समझा जा सकता है। घटादि पदार्थ 'भाव' स्वरूप हैं तथा घटादि का अभाव 'अभाव' स्वरूप है – इतना तो सभी को मान्य है। अब घटादि के अभाव का अभाव 'भाव' स्वरूप होता है या 'अभाव' स्वरूप ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत प्रगट होते हैं। एक मत यह है कि अभाव हमेशा अभाव ही होता है, चाहे वह घटादि पदार्थ का अभाव हो या घटादिपदार्थ के अभाव का अभाव

हो। भावपदार्थ के अभाव से अभाव के अभाव को विलक्षण अभाव जरूर माना जा सकता है किन्तु भावस्वरूप नहीं माना जा सकता। इस मत में 'भावत्व' धर्म और 'अभावत्व' धर्म परस्पर विरोधी हैं। दूसरा मत यह है कि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है। जैसे- घट के अभाव का अभाव घट स्वरूप होता है। कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि- 'उसके पास धन का अभाव नहीं है'-तो इसका अर्थ ऐसा ही होगा कि-'उसके पास धन है'। इसी प्रकार हम कहे कि 'यहाँ घट का अभाव नहीं है'-इसका अर्थ यही होता है कि-'यहाँ घट है'। अर्थात् घट के अभाव का निषेध तभी हो सकता है जब वहाँ घट हो। अतः अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है। इस मत में 'भावत्व' को 'अभावत्व' का विरोधी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि द्वितीय अभाव स्वयं भाव स्वरूप है। अब 'अभावत्व' का अर्थ 'भावभिन्नत्व' करने पर द्वितीय मत के अनुसार भी मूलग्रन्थ की सङ्गति हो जायेगी। इस मत के अनुसार प्रथम अभाव में 'भावभिन्नत्व' रहेगा, किन्तु द्वितीय अभाव में 'भावभिन्नत्व' नहीं रहेगा। और घट पदार्थ में स्थित 'भावत्व' धर्म प्रथम अभाव में स्थित 'भावभिन्नत्व' धर्म का विरोधी है ही।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.४] जातेरपि अंशविभागो नास्ति। किन्तु जातेः समवायसम्बन्धेन सत्त्वं नियतम्। अखण्डोपाधेस्तु न तथा। तस्य स्वरूपसम्बन्धेन सत्त्वमित्यनयोः पृथगुल्लेखः।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.२१] मूलोक्तनियतशब्दस्य नियमानुगतरूपार्थपक्षे नियमशब्दस्यार्थः व्याप्तिः। सा च जातित्वरूपधर्मे समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य व्याप्तिः। अर्थात्सर्वासु जातिष्वेव समवायसम्बन्धावच्छिन्नं वृत्तित्वं वर्तते। एतस्मादेव पूर्वाचार्या 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' इत्यादौ जातिलक्षणे समवेतत्वस्यार्थात् समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य निवेशं कृतवन्तः।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.४] जाति का भी अखण्डोपाधि की तरह अंश से विभाग नहीं है। इस समानता के होने पर भी दोनों में भेद यह है कि जाति का रहना

समवाय सम्बन्ध से निश्चित है। जबकि अखण्डोपाधि में उस प्रकार नहीं है। उसकी सत्ता स्वरूपसम्बन्ध से है। इस कारण से इन दोनों का अलग उल्लेख किया गया है।

[सु.२१] मूल में जो 'नियत' शब्द कहा गया है, उसका अर्थ 'नियम से अनुगत' ऐसा करते हैं तो 'नियम' शब्द का अर्थ 'व्याप्ति' होगा। वह 'जातित्व' धर्म में 'समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न वृत्तित्व' की व्याप्ति है। अर्थात् सभी जाति में समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न वृत्तित्व रहता है। इसी कारण से पूर्वाचार्यों ने 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' (= जो नित्य हो तथा अनेकों में समवाय सम्बन्ध से वृत्ति हो वह जाति है।) इस जाति के लक्षण में 'समवेतत्व' अर्थात् 'समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न वृत्तित्व' का निवेश किया है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.५] जातेरखण्डोपाधेश्च प्रतीतावनुल्लेखे (शब्देन अनुच्चारणे) निरवच्छिन्ना (तयोर्विशेषणप्रतीतिरहिता) प्रतीतिर्भवति। यथा-'पटो भाव' इति प्रतीतौ पटत्वं जातिः, भावत्वमखण्डोपाधिश्च पटपदार्थभावपदार्थान्तर्भाविणैव प्रतीयते, न तु शब्देन ते उल्लिखिते इति न तयोः प्रतीतावत्र सविशेषणं भानं किन्तु पटत्वांशे भावत्वांशे च विशेषणभानरहितमेव निरवच्छिन्नं भानं जायते। यत्र तु तयोरुल्लेखः, तत्र तयोः प्रतीतिरपि सावच्छिन्ना (विशेषणप्रतीतिसहिता) भवति। यथा- 'अस्मिन् द्रव्ये भावत्वं पटत्वञ्चास्ति' इत्यत्र पटत्वं भावत्वञ्च स्पष्टत एव शब्देन उल्लिखितमिति तयोरत्र यथाक्रमं पटत्वत्वेन भावत्वत्वेन च सावच्छिन्ना प्रतीतिः। अत एव 'अनुल्लिख्यमानजात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थानां निरवच्छिन्नभानानभ्युपगम' इति ग्रन्थकृद्भिः सिद्धान्तितम्।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.२२] मूले'ऽनुल्लिख्यमानजात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थानाम्' इत्यंशेऽनुल्लिख्यमानपदार्थः जात्यंशेऽखण्डोपाध्यंशे चोभयत्र विशेषणम्। तेन

जातेः अखण्डोपाधेश्च अनुल्लिख्यमानत्वे सति तदंशे न कोऽपि धर्मः प्रकारतया भासते । उल्लिख्यमानत्वे तु उभयोर्ज्ञानं तदंशे सप्रकारकमेव भवतीति तात्पर्यं प्रतिपद्यते ।

[सु.२३] ननु शब्देनानुल्लिख्यमानतादशायां जातेः अखण्डोपाधेश्च स्वांशे निष्प्रकारकप्रतीतिः भवतीति 'द्रव्यं भाव' इत्यादिप्रतीतौ द्रव्यत्वादिजातेः भावत्वादिरूपाखण्डोपाधेश्च द्रव्यभावशब्दाभ्यामेवोल्लिखितत्वात् उक्तस्थलीय-प्रतीतौ द्रव्यत्वभावत्वादिधर्माणां प्रतीतिः स्वांशे निष्प्रकारिका भवतीति मतं कथं सङ्गच्छते इति चेदुच्यते यत् द्रव्यत्वादिजातौ भावत्वाद्यखण्डधर्मे च शब्देन विशेष्यरूपेण उल्लिखिते एव तयोः प्रतीतिः स्वांशे सप्रकारिकैव भवत्यन्यथा न । द्रव्यभावादिशब्देन द्रव्यत्वभावत्वादिधर्मः विशेषणरूपेणैव उपस्थापितः भवति । विशेष्यरूपेण उपस्थापितो न भवति, यतः द्रव्यादिशब्दानां द्रव्यत्वविशिष्टे द्रव्ये एव शक्तिः कल्पिता ।

[सु.२४] पुनश्चात्र शङ्कयमुदेति यत् द्रव्ये द्रव्यत्वम् इत्याद्याकारक-प्रतीतिस्थले एकस्यैव द्रव्यत्वस्य विशेष्यरूपेण, द्रव्यांशे च विशेषणरूपेण ज्ञानं भवतीति द्रव्यत्वशब्दद्वारा द्रव्यत्वस्य विशेष्यरूपेणैवोल्लिखितत्वात् तस्योल्लिख्यमानजातिभिन्नत्वाभावात् द्रव्यरूपविशेषणांशे भासमानद्रव्यत्वांशे तादृशी प्रतीतिः कथं निष्प्रकारिका भवतीति चेदुच्यते यत् विशेष्यरूपेण जातेस्तथा अखण्डोपाधेरुपस्थापकशब्दप्रयोज्यविषयताभिन्ना जात्यखण्डोपाधिविषयतैव निरवच्छिन्ना भवति । अत्रेदं तात्पर्यं यत् द्रव्ये द्रव्यत्वम् इत्यादिप्रतीतिस्थले द्रव्यत्वे विषयताद्वयं वर्तते । एका विशेष्यता, अपरा च द्रव्यनिष्ठप्रकारतानिरूपिता अवच्छेदकता । तयोर्मध्ये द्रव्यत्वनिष्ठविशेष्यतारूपविषयतैव द्रव्यत्वरूपजातेः विशेष्यरूपेणोपस्थापकद्रव्यत्वशब्दप्रयोज्या, अवच्छेदकताख्यविषयता च तदन्या । अतस्तस्या निरवच्छिन्नत्वे नास्ति किमपि बाधकम् ।

[सु.२५] अत्रैकः विषयः विशेषेण लक्षणीयो यत् जातेस्तथाखण्डो-पाधिरूपधर्मस्य प्रतीतिः तदंशे निष्प्रकारिका, तद्भिन्नधर्मस्य च स्वांशे सप्रकारिका भवतीत्ययमेव मौलिकसिद्धान्तः अस्मिन् प्रकरणे प्रतिपन्नः ।

[सु.२६] किन्तु सा जातिरखण्डोपाधिरूपधर्मो यदि शब्देनोपस्थापितो भवति, तदा तस्य प्रतीतिः स्वांशे सप्रकारिकैव भवति । अस्योदाहरणं पूर्वमेव प्रदर्शितम् ।

[सु.२७] इदानीं गुरुतरैका शङ्कोदेति यत् 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' अर्थात् जगति तादृशं किमपि ज्ञानं नास्ति यत् शब्दसम्बन्धशून्यमिति शाब्दिकसम्प्रदायस्य सिद्धान्तं विहायाप्यन्येन केनापि मतेन शाब्दबोधभिन्नमन्यज्ज्ञानं शब्दजन्योपस्थितिसापेक्षं न भवति । अत एव 'इदं द्रव्यत्ववत्' इत्याकारकप्रत्यक्षादिज्ञानस्थलेऽपि तस्य ज्ञानस्य द्रव्यत्वादिशब्दद्वारानुल्लिख्यमानत्वात् तस्य ज्ञानस्य द्रव्यत्वांशे निष्प्रकारकत्व-मेवोचितम् । तस्याः शङ्कायाः समाधानार्थमुच्यते यत् सर्वस्यैव ज्ञानस्याकारप्रदर्शकमेकैकम् अभिलापवाक्यं विद्यते । तदभिलापवाक्यं तत्तज्ज्ञानस्य प्रकारविशेष्यादेर्यथायथाकारस्यैव बोधकम् । अर्थात् प्रकृतं ज्ञानं यत्र 'द्रव्यं भावः' इत्येवंरूपेण निर्विशेषणकं द्रव्यत्वं तथा भावत्वं विषयीकरोति तत्र तज्ज्ञानस्य अभिलापवाक्यमपि द्रव्यं भावः इत्येवंरूपमेव भविष्यति । पुनश्च यदा द्रव्यत्ववान् भावत्ववान् इत्याकारकं ज्ञानं भविष्यति तदा तस्याभिलापवाक्यमपि द्रव्यत्ववान् भावत्ववान् इत्याकारकं भविष्यति । अतः तदभिलापवाक्यघटकशब्देन उल्लेखानुल्लेखद्वारैव प्रकृताशङ्कायाः समाधानं भवितुमर्हति ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.५] जाति और अखण्डोपाधि की प्रतीति में अनुल्लेख अर्थात् शब्द के द्वारा उच्चारण न होने पर उन दोनों की निरवच्छिन्न अर्थात् विशेषण के भान से रहित प्रतीति होती है । जैसे – 'पट भाव है' इस प्रतीति में पटत्व जाति और भावत्व अखण्डोपाधि का भान पटपदार्थ और भावपदार्थ में ही अन्तर्भूत होकर होता है । उन दोनों का शब्द से उल्लेख नहीं है, अतः उनकी प्रतीति मे सविशेषण भान नहीं होता है, किन्तु पटत्व अंश में और भावत्व अंश में विशेषण के भान से रहित निरवच्छिन्न भान ही होता है । जहां उनका उल्लेख हो वहाँ उनकी प्रतीति भी सावच्छिन्न अर्थात् विशेषण के भान से युक्त होती है । जैसे – 'इस द्रव्य मे भावत्व और पटत्व है ।' यहाँ पटत्व और भावत्व का स्पष्ट रूप से शब्द के द्वारा उल्लेख किया गया है अतः यहाँ उन दोनो की क्रमशः पटत्वत्व रूप से और भावत्वत्व रूप से सावच्छिन्न प्रतीति होती है । इसी कारण से 'जिसका उल्लेख न किया हो एसी जाति और अखण्डोपाधि से अन्य सभी पदार्थो

का निरवच्छिन्न भान नही होता है' ऐसा सिद्धान्त ग्रन्थकार के द्वारा बनाया गया है।

[सु.२२] मूल में–'अनुल्लिख्यमानजात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थानाम्'–इस पंक्ति में जो 'अनुल्लिख्यमान' पद है, वह 'जाति' और 'अखण्डोपाधि'–इन दोनों पदों का विशेषण है। ऐसा करने पर मूल की उक्त पंक्ति का तात्पर्य ऐसा होगा–'जाति और अखण्डोपाधि का शब्द से उल्लेख न होने की दशा में उस अंश में कोई भी धर्म प्रकार रूप में भासित नहीं होता है। शब्द से उल्लेख होने की दशा में तो उन दोनों–जाति और अखण्डोपाधि–का ज्ञान उस अंश में सप्रकारक ही होता है।'

[सु.२३] शब्द से उल्लेख न होने की दशा में जाति और अखण्डोपाधि की प्रतीति अपने अंश में निष्प्रकारक होती है, ऐसा नियम है। किन्तु 'द्रव्यं', 'भावः' – इत्यादि प्रतीति में 'द्रव्यत्व' आदि जाति और 'भावत्व' आदि अखण्डोपाधि का 'द्रव्य' और 'भाव' – इन शब्दों से ही उल्लेख होने के कारण (अर्थात् 'द्रव्य' तथा 'भाव' शब्द से 'द्रव्यत्व' जाति तथा 'भावत्व' उपाधि का ही उल्लेख किया गया होने के कारण–) उक्त 'द्रव्यं' 'भावः' इत्यादि प्रतीति में, द्रव्यत्व–भावत्व आदि धर्मों की प्रतीति स्वांश में निष्प्रकारक होती है – ऐसा मत कैसे संगत हो सकता है ? इस प्रश्न के जवाब में कहते हैं कि – द्रव्यत्व आदि जााति तथा भावत्व आदि अखण्डधर्म का शब्द से विशेष्य रूप में उल्लेख किये जाने पर ही उन धर्मों की प्रतीति स्वांश में सप्रकारिका ही होती है। उन धर्मों का शब्द से विशेष्य रूप में उल्लेख न करने पर उन धर्मों की प्रतीति स्वांश में सप्रकारक नहीं होती हैं। (उक्त 'द्रव्यं' 'भावः' इत्यादि प्रतीति में–) द्रव्य–भाव आदि शब्दों से द्रव्यत्व भावत्व आदि धर्म विशेषण रूप में उपस्थापित होता है, विशेष्य रूप में नहीं। क्योंकि 'द्रव्य' शब्द की शक्ति द्रव्यत्व से विशिष्ट ऐसे द्रव्य में ही कल्पित की गई हैं अथवा स्वीकार की गई है।

[सु.२४] यहाँ फिर एक शंका यह उत्पन्न होती है कि–'द्रव्ये द्रव्यत्वम्' इत्यादि आकारवाली प्रतीति के स्थल में एक ही द्रव्यत्व का एक जगह विशेष्य रूप में तथा द्रव्य अंश में विशेषण रूप में ज्ञान होता है। अब यहाँ द्रव्यत्व शब्द के द्वारा द्रव्यत्व विशेष्य रूप में उल्लिखित होने के कारण वह 'द्रव्यत्व' उल्लिख्यमानजाति से भिन्न नहीं है (अर्थात् उल्लिख्यमान ही है–) तो द्रव्य रूप

विशेषण में भासमान द्रव्यत्व अंश विषयक प्रतीति निष्प्रकारक क्यों होती हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि– जाति तथा अखण्डोपाधि का विशेष्य रूप में उपस्थापन करनेवाले शब्द से प्रयोज्य विषयता से भिन्न जो भी जाति तथा अखण्डोपाधि की विषयता हो वही निरवच्छिन्न होती हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि– 'द्रव्ये द्रव्यत्वम्' इत्यादि प्रतीति स्थल में 'द्रव्यत्व' में दो विषयताएँ रहती है। एक विशेष्यता रूप विषयता और दूसरी 'द्रव्य' में रहनेवाली प्रकारता से निरूपित अवच्छेदकता रूप विषयता।[८] इन दो विषयताओं में द्रव्यत्व में रहनेवाली विशेष्यता रूप जो विषयता है वह विषयता ही द्रव्यत्व रूप जाति को विशेष्य रूप में उपस्थापन करनेवाले द्रव्यत्व शब्द से प्रयोज्य है। 'अवच्छेदकता' नामक जो विषयता है वह उससे अलग है (अर्थात् द्रव्यत्वजाति को विशेष्य रूप में उपस्थापन करनेवाले शब्द से प्रयोज्य नहीं है।) अतः उस 'द्रव्यत्व' अंश विषयक प्रतीति के निरवच्छिन्न होने में कोई भी बाधक नहीं है।

[सु.२५] यहाँ एक विषय विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि–जाति तथा अखण्डोपाधि रूप धर्म की प्रतीति उस अंश में निष्प्रकारक होती है और जाति तथा अखण्डोपाधि से भिन्न धर्म की प्रतीति अपने अंश में सप्रकारक होती है–यह मौलिक सिद्धान्त ही इस प्रकरण में बताया गया है।

[सु.२६] किन्तु वह जाति और अखण्डोपाधि रूप धर्म अगर शब्द के द्वारा उपस्थापित होता है, तब उस धर्म की प्रतीति अपने अंश में सप्रकारक ही होती है। इसका उदाहरण पहले ही दिखाया जा चुका है।

[सु.२७] अब यहाँ एक गुरुतर शंका होती है कि– यद्यपि शाब्दिकसम्प्रदाय के सिद्धान्त अनुसार जगत में वैसा कोई भी ज्ञान नहीं है जो शब्द के सम्बन्ध से रहित हो। किन्तु उनके इस मत को छोड़कर अन्य किसी भी मत में शाब्दबोध से भिन्न कोई भी ज्ञान शब्दजन्य उपस्थिति के सापेक्ष नहीं माना जाता। इसीलिये जब 'इदं द्रव्यत्ववत्' ऐसे आकारवाला प्रत्यक्ष आदि ज्ञान होता है तब वह ज्ञान 'द्रव्यत्व' शब्द के द्वारा अनुल्लिख्यमान होने के कारण उस ज्ञान के 'द्रव्यत्व' अंश को निष्प्रकारक ही मानना पड़ेगा।[९] – इस शंका के समाधान के लिए कहा जाता है कि – सभी ज्ञान के आकार को बतानेवाला एक एक अभिलाप वाक्य होता है। वह अभिलाप वाक्य उस ज्ञान के प्रकार, विशेष्य आदि के यथावस्थित स्वरूप का बोध कराता है। अर्थात् ज्ञान जब 'द्रव्यं भावः' इस

प्रकार का हो और विशेषण रहित द्रव्यत्व और भावत्व को अपना विषय बनाता हो, तब उस ज्ञान का अभिलाप वाक्य भी 'द्रव्यं भावः' इस प्रकार का ही होगा और जब ज्ञान 'द्रव्यत्ववान् भावत्ववान्' इस प्रकार का होगा तब उस ज्ञान का अभिलाप वाक्य भी 'द्रव्यत्ववान् भावत्ववान्' इस प्रकार का ही होगा। अतः ज्ञान के अभिलाप वाक्य के घटकभूत शब्द के द्वारा उल्लेख या अनुल्लेख होने से ही इस शंका का समाधान हो सकता है।

❊ टिप्पणी ❊

८. द्रव्यत्व में दो भिन्न विषयता का रेखांकन :

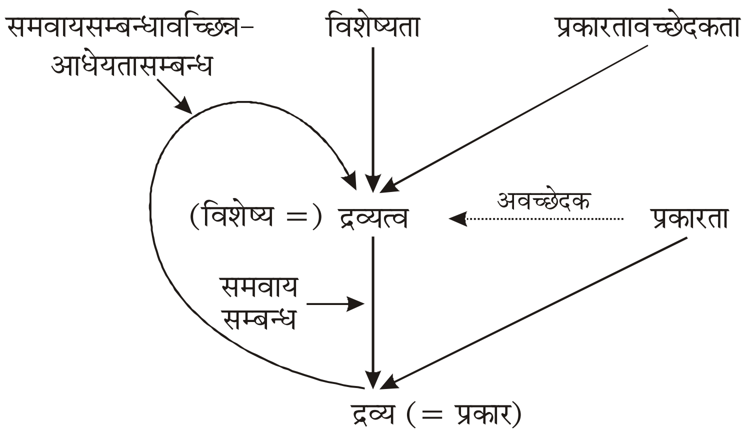

'द्रव्ये द्रव्यत्वम्' अर्थात् द्रव्य में द्रव्यत्व है - इस ज्ञान में द्रव्यत्व विशेष्य है और द्रव्य प्रकार है। विशेष्य स्वरूप द्रव्यत्व में विशेष्यता रहती है। प्रकार स्वरूप द्रव्य में द्रव्यत्व रहता है तथा द्रव्य में स्वनिरूपित समवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता भी रहती है। क्योंकि प्रकार अपने विशेष्य में जिस सम्बन्ध से रहता हो वह सम्बन्ध प्रकारतावच्छेदकसम्बन्ध बनता है और यहाँ द्रव्य में द्रव्यत्व समवायसम्बन्ध से रहता है द्रव्यत्व में समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता रहती है। अतः द्रव्य स्वरूप प्रकार अपने विशेष्य स्वरूप द्रव्यत्व में समवायसम्बन्धावच्छिन्नआधेयतासम्बन्ध से रहता है। इसी कारण से द्रव्य में स्थित प्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध भी समवायसम्बन्धावच्छिन्न-आधेयतासम्बन्ध है। द्रव्य का मुख्य धर्म द्रव्यत्व है। वह द्रव्यत्व अपने समान

अधिकरण में स्थित प्रकारता का अवच्छेदक बनता है। द्रव्यत्व प्रकारतावच्छेदक है; अतः द्रव्यत्व में प्रकारतावच्छेदकता रहती है। इस प्रकार 'द्रव्ये द्रव्यत्वम्' ज्ञान के दो द्रव्यत्व में दो भिन्न विषयता रहती है।

९. कौन कौन सा ज्ञान शब्द के सम्बन्ध वाला होता है तथा कौन कौन सा ज्ञान शब्द के सम्बन्ध से रहित होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत उपस्थित होते हैं। शाब्दिक सम्प्रदाय का मत ऐसा है कि सभी ज्ञान – चाहे वह ज्ञान शब्द से जन्य हो या उससे भिन्न – शब्द के सम्बन्ध वाले ही होते हैं। किन्तु अन्य सम्प्रदाय ऐसा नहीं मानते। इन अन्य सम्प्रदायों के मतानुसार जो ज्ञान शब्द के सम्बन्ध वाला नहीं होता, उस ज्ञान में सप्रकारक–निष्प्रकारक का व्यवहार किस प्रकार होगा ? इस शंका का समाधान प्रस्तुत टीकांश में दिया गया है।

❋ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❋

[न.६] सम्बन्धः सन्निकर्षः। स च विभिन्नयोर्वस्तुनोर्विशेषणविशेष्यभावप्रयोजकः। यथा–'दण्डी पुरुष' इति दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रयोजकः संयोगसम्बन्धः। दण्डपुरुषयोरन्तरा संयोगं विना 'दण्डी पुरुष' इति विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरेव न स्यात्।

❋ सुप्रभा ❋

[सु.२८] मूले 'विभिन्नयोर्वस्तुनोः' इत्यंशोऽभिन्नवस्तुनोऽप्युपलक्षणम्। किञ्च, तत्स्थलीयद्वित्वमपि अविवक्षितम्। यतः तादात्म्यसम्बन्धस्थले अभेदसम्बन्धस्थले वा तादृशः सम्बन्धः (तादात्म्यम्, अभेदो वा) एकस्यैव वस्तुनो विशेष्यविशेषणभावस्य नियामको भवति, न तु भिन्नयोः वस्तुनोः।

[सु.२९] दण्डपुरुषयोरन्तरा इत्यादिमूलवाक्ये दण्डपुरुषयोः अन्तरा–पदार्थेन सह न सम्बन्धः किन्तु परवर्तिना 'विशेषणविशेष्यभाव' इत्यंशेन सह तस्य सम्बन्धो भवति। अन्यथा अन्तराशब्दार्थेन सह पूर्वोक्तांशस्य सम्बन्धे स्वीकृते दण्डपुरुषशब्दोत्तरम् अन्तराशब्दयोगेन द्वितीयापत्तिः स्यात्।

❋ अनुवाद ❋

[नव्य.६] सम्बन्ध सन्निकर्ष स्वरूप होता है। वही अलग अलग

वस्तुओ में विशेषण विशेष्य भाव का प्रयोजक है । जैसे – 'दण्डवाला पुरुष है' यहाँ दण्ड और पुरुष में विशेषणविशेष्यभाव का प्रयोजक संयोगसम्बन्ध है । अगर मध्य में संयोग न माना जाये तो 'दण्डवाला पुरुष है' इत्याकारक दण्ड और पुरुष की विशेषणविशेष्यभाव की प्रतीति ही नहीं हो सकती ।

[सु.२८] मूल में 'विभिन्नयोर्वस्तुनोः' (= दो विभिन्न वस्तुओं का) यह अंश अभिन्नवस्तु का भी उपलक्षक[१०] है और वहाँ जो द्वित्व (अथवा द्विवचन) है वह भी अविवक्षित है । क्योंकि तादात्म्यसम्बन्ध के स्थल में अथवा अभेदसम्बन्ध के स्थल में वह सम्बन्ध एक ही वस्तु के विशेष्यविशेषणभाव का नियामक होता है, दो अलग अलग वस्तुओं का नहीं ।

[सु.२९] 'दण्डपुरुषयोरन्तरा' इस मूलग्रन्थ के वाक्य में 'दण्ड और पुरुष' का 'अन्तरा' पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु परवर्ती 'विशेषणविशेष्यभाव' इस अंश के साथ उस पदार्थ का सम्बन्ध होता है । अन्यथा 'अन्तरा' शब्द के साथ 'दण्डपुरुषयोः' का सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'दण्डपुरुष' शब्द के बाद में अन्तरा शब्द का योग होने के कारण द्वितीया विभक्ति की आपत्ति होगी ।[११]

❊ टिप्पणी ❊

१०. 'उपलक्षणत्वं तत्पदजन्यबोधविषयत्वेन शक्त्यविषयत्वम्' अर्थात् किसी निश्चित पद से जन्य बोध के रूप में जो शक्ति का विषय न हो, फिर भी उसी पद से उस का बोध होता हो तो उसे उपलक्षण कहा जाता है। प्रस्तुत स्थल पर 'विभिन्न' शब्द की शक्ति अभिन्न में नहीं है। फिर भी 'विभिन्न' शब्द अभिन्न वस्तु का बोध कराता है। इस प्रकार यहाँ 'विभिन्न' शब्द अभिन्न वस्तु का भी उपलक्षक है।

११. 'दण्डपुरुषयोरन्तरा संयोगं विना 'दण्डी पुरुष' इति दण्डपुरुषयो विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरेव न स्यात् ।' – इस वाक्य को ध्यान से देखिये । इस वाक्य में 'दण्डपुरुषयोः' – यह पद दो बार प्रयुक्त हुआ है। प्रथम बार इस पद का अन्वय 'अन्तरा' पद के साथ तथा द्वितीय बार इस पद का अन्वय 'विशेषणविशेष्य...' इस पद के साथ किया गया है। अब किसी भी एक जगह से इस पद को निकाल दे तो उस जगह इस पद का अध्याहार से बोध हो जाता

है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी वाक्य को रखा गया है, किन्तु पीछे 'दण्डपुरुषयोः' पद का उपयोग नहीं किया गया है। केवल वाक्य की आदि में ही उक्त पद का उपादान किया गया है। वाक्य की आदि में 'दण्डपुरुषयोः' पद को रखा जाय तो उसका अन्वय 'अन्तरा' पद के साथ करना पड़ता है और तब उक्त पद में द्वितीया विभक्ति होने की आपत्ति आती है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि उस पद का अन्वय पीछे के 'विशेषणविशेष्यभाव' इस अंश के साथ करना चाहिए। ऐसा करने से द्वितीया विभक्ति होने की आपत्ति का वारण हो जाता है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.७] सम्बन्धश्च द्विविधः साक्षात्-परम्पराभेदात् । सम्बन्धान्तराघटितः सम्बन्धः साक्षात्सम्बन्धः । स च समवाय-संयोग-स्वरूपादिभेदाद् बहुविधः । 'रूपवान् पुरुषः', 'पात्रे जलमस्ति', 'गृहे पटो नास्ति' इत्यादौ पुरुषे रूपस्य, पात्रे जलस्य, गृहे च पटाभावस्य यथाक्रमं समवाय-संयोग-स्वरूपनामानः सम्बन्धाः प्रतीयन्ते ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.३०] जगदीशतर्कालङ्कारः सिद्धान्तदीधितिटीकायां तस्य सम्बन्धस्य लक्षणं 'विशेष्यविशेषणत्वान्यविशिष्टधीविषयत्वम्' इत्थञ्चकार। अत्रेदं तात्पर्यं यत् रूपवान् घटः इत्यादिविशिष्टबुद्धिस्थले प्रधानतः वस्तुत्रयं बुद्धिविषयो भवति । तथाहि विशेष्यं घटादिः, विशेषणं रूपादिः, रूपादेः सम्बन्धः समवायादिश्च। तेषु पदार्थेषु येयं बुद्धिविषयता वर्तते, तन्मध्ये घटादिगतविषयता विशेष्यत्वरूपा, रूपादिगतविषयता च विशेषणत्वरूपा प्रकारत्वरूपा वा । तद्द्विविधविषयताभिन्ना समवायादिगतविषयता हि संसर्गतारूपा। तत्संसर्गताख्यविषयतैव सम्बन्धस्य लक्षणम् । तस्मिन् ज्ञाने रूपत्वघटत्वसमवायत्वनिष्ठा अवच्छेदकताख्या या विषयता वर्तते, जगदीशनये सा न विशेषणताभिन्ना। अत एव रूपत्वादौ (लक्षणस्य) नातिप्रसङ्गः भवति। मूले साक्षात्सम्बन्धः संयोगसमवायस्वरूपादिभेदेन बहुविधत्वेन प्रतिपादितः । तत्र स्वरूपसम्बन्धः दैशिककालिकभेदेन द्विविधः बोद्धव्यस्तथादिपदेन तादात्म्यप्रतियोगितानु-

योगिताविषयतावच्छेदकताप्रकारताविशेष्यतास्वत्वस्वामित्वप्रभृतयः विविधाः सम्बन्धाः बोद्धव्याः ।

[सु.३१] संयोगादिसाक्षात्सम्बन्धस्थले अनुयोगिपदार्थे प्रतियोगिनः तादृशः सम्बन्धः स्वतन्त्रतयैव भवति, न तु प्रतियोगिनोऽपरं कमपि सम्बन्धम् अपेक्षते । तत्स्थले संयोगादिसाक्षात्सम्बन्धः एकैकपदार्थमात्रम् । परम्परासम्बन्धस्तु तादृशैकेकपदार्थमात्रं न भवति । स तु परस्परं विशेष्यविशेषणभावापन्ननाना-पदार्थघटितपदार्थविशेषो भवति । तादृशपदार्थे विशेष्यभूतपदार्थः प्रकृतानुयोगिनि प्रकृतप्रतियोगिनः सम्बन्धो भवितुं नार्हति । किन्तु तस्य विशेष्यस्य विशेषणी-भूतपदार्थेन सह प्रतियोगिनः सम्बन्धवशादेव तद्विशिष्टतया तद्विशेष्यं प्रकृतानुयोगिनि प्रकृतप्रतियोगिनः सम्बन्धो भवति । यथा स्वसंयोगिसंयोगेन वह्निमान् देशः इत्यादिस्थले संयोगसम्बन्धेन देशस्य वह्निशून्यत्वेऽपि स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्धेन वह्निप्रकारके देशविशेष्यके ज्ञाने स्वसंयोगिसंयागसम्बन्धः परम्परासम्बन्धः । अत्र विशिष्टसम्बन्धस्य घटकः विशेष्यभूतः द्वितीयसंयोगपदार्थः विशेषणांशं परित्यज्य स्वतन्त्रतया वह्न्यसंयुक्तदेशरूपप्रकृतानुयोगिनि वह्निरूपप्रकृत-प्रतियोगिनः सम्बन्धो न भवति, किन्तु तत्संबन्धान्तर्गतसंयोग्यंशे विशेषणीभूत-संयोगरूपं प्रतियोगिनः सम्बन्धमपेक्ष्याथवा तत्संयोगांशे स्वपदसूचितप्रकृत-प्रतियोगिनः प्रतियोगित्वरूपसम्बन्धमपेक्ष्य स स्वसंयोगिसंयोगः सम्बन्धः प्रतियोगिनः वह्नेः सम्बन्धो भवति ।

[सु.३२] नव्यनैयायिकाः प्रकारान्तरेणापि साक्षात्परम्परासम्बन्धयो-र्वैलक्षण्यमुपपादयन्ति । तथाहि संयोगत्वमात्रावच्छिन्नसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकवह्निसामान्याभाववत्तानिश्चयो संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवह्निप्रकारकबुद्धेः प्रतिबन्धक इत्युच्यते । तत्प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्थले प्रतिबध्यतावच्छेदकगर्भे इतरवारकपर्याप्तेर्निवेशं कृत्वा संयोगत्वमात्रावच्छिन्नसंसर्गकवह्निमत्ताबुद्धिं प्रति प्रोक्तनिश्चयः प्रतिबन्धक इत्येवं कल्पयितुं न शक्यते, यतः प्रागुक्तवह्निसामान्या-भाववत्तानिश्चयसत्त्वे यथा संयोगेन वह्निमान् इति बुद्धिर्न भवति, तथैव महानसीयसंयोगेन वह्निमान् इत्यादिरूपापि बुद्धिर्न भवति । अत एवोक्तनिश्चयस्य प्रतिबध्यतावच्छेदकतान्तर्गतप्रकारतावच्छेदकसंसर्गतावच्छेदकस्येतरवारकस्य निवेशं न कृत्वैव प्रोक्तस्थलीयप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः कल्प्यः । तत्कल्पना-नुसारेण गुरुतरैका शङ्कोदेति यत् पूर्वोक्तरूपेण संयोगत्वमात्रावच्छिन्नसंसर्गताक-

प्रतियोगिताकवह्निसामान्याभाववत्त्वनिश्चये सति यथा महानसीयसंयोगेन वह्निमान् इत्यादिबुद्धिर्न भवति, तथैवोक्तविधवह्न्यभावप्रकारकनिश्चयसत्त्वे स्वसंयोगि-संयोगेन वह्निमान् इत्येवं ज्ञानमपि भवितुं नार्हति । तस्य दोषस्य निवृत्तये साक्षात्सम्बन्धस्थले सम्बन्धगतामेकां संसर्गतां तथा परम्परासम्बन्धस्थले संसर्गताद्वयं स्वीकृत्य साक्षात्सम्बन्धस्थलीयायामेकस्यामेव संसर्गतायां प्रकारताविशेष्यतानिरूपितत्वयोः तथा परम्परासम्बन्धस्थलीयसंसर्गतयोर्मध्ये एकस्यां प्रकारतानिरूपितत्वस्य तथान्यस्यां विशेष्यतानिरूपितत्वमात्रस्य अन्वयं स्वीकृत्य प्रकृतविशेष्यतानिरूपितसंयोगत्वावच्छिन्नसंसर्गतानिरूपितप्रकृत-प्रकारताशालिबुद्धित्वे प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वेन स्वीकृते प्रागुक्तो दोषो न भवति, यतः स्वसंयोगिसंयोगरूपपरम्परासम्बन्धस्थले संसर्गतयोर्मध्ये एका प्रथम-संयोगनिष्ठा, द्वितीया च द्वितीयसंयोगनिष्ठा । प्रथमा प्रकारतानिरूपिता, द्वितीया च विशेष्यतानिरूपिता । तदुभयसंसर्गतयोः कापि विशेष्यताप्रकारतोभयनिरूपिता नैव भवति । एवं तस्याः संसर्गताया एकत्वद्वित्वभेदेन साक्षात्परम्परासम्बन्धयोः पार्थक्यमुपपादयितुं शक्यते ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.७] सम्बन्ध साक्षात् और परम्परा के भेद से दो प्रकार का है । जो सम्बन्ध अन्य किसी सम्बन्ध की सहायता से घटित न हुआ हो वह सम्बन्ध साक्षात् सम्बन्ध होता है । वह साक्षात् सम्बन्ध समवाय, संयोग, स्वरूप आदि के भेद से बहुत प्रकार का है । रूपवाला पुरुष, पात्र में जल है, घर में पट नहीं है – यहाँ पुरुष में रूप का, पात्र में जल का और घर में पट के अभाव का क्रमशः समवाय, संयोग और स्वरूप सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

[सु.३०] जगदीशतर्कालङ्कार ने सिद्धान्तलक्षण की दीधिति टीका की जागदीशी टीका में सम्बन्ध का लक्षण–'विशेष्य और विशेषण से भिन्न जो विशिष्ट बुद्धि का विषय हो वह सम्बन्ध कहलाता है'– इस प्रकार किया है। यहाँ तात्पर्य यह है कि 'रूपवान् घटः' (= रूपवाला घट है) इत्यादि विशिष्टज्ञान के स्थल में प्रधान रूप से तीन पदार्थ बुद्धि के विषय बनते हैं। जैसे – घट आदि विशेष्य, रूप आदि विशेषण और समवाय आदि रूपादि के सम्बन्ध । उन पदार्थों में जो बुद्धि की विषयता रहती है, उनमें घटादि में रहनेवाली विषयता

'विशेष्यता' रूप विषयता है, और रूपादि में रहनेवाली विषयता 'विशेषणता' अथवा 'प्रकारता' रूप विषयता है। उन दोनों विषयताओं से भिन्न समवाय आदि में रहनेवाली विषयता 'संसर्गता' रूप विषयता है। वह 'संसर्गता' नाम की जो विषयता है, वही सम्बन्ध का लक्षण है। उस ज्ञान में रूपत्व, घटत्व और समवायत्व में रहनेवाली अवच्छेदकता नाम की जो विषयता है, वह विषयता जगदीशतर्कालङ्कार के मत में विशेषणता नामक विषयता से अलग नहीं है। इस कारण से ही रूपत्व आदि में सम्बन्ध के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[१२] मूल में-'साक्षात्सम्बन्ध संयोग, समवाय, स्वरूप आदि बहुत प्रकार का है'-ऐसा कहा गया है। वहाँ स्वरूपसम्बन्ध के दैशिकस्वरूपसम्बन्ध और कालिकस्वरूपसम्बन्ध ये दो भेद जानने चाहिये तथा आदि पद से तादात्म्यसम्बन्ध, प्रतियोगितासम्बन्ध, अनुयोगितासम्बन्ध, विषयतासम्बन्ध, अवच्छेदकतासम्बन्ध, प्रकारतासम्बन्ध, विशेष्यतासम्बन्ध, स्वत्वसम्बन्ध, स्वामित्वसम्बन्ध आदि विविध सम्बन्ध जानने चाहिये।

[सु.३१] संयोग आदि साक्षात्सम्बन्ध के स्थल में प्रतियोगी वस्तु का अनुयोगी में जो सम्बन्ध होता है वह स्वतन्त्र रूप से ही होता है। अर्थात् प्रतियोगी के दूसरे किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है। वहाँ संयोग आदि साक्षात्सम्बन्ध एक एक पदार्थ स्वरूप ही होता है। किन्तु परम्परासम्बन्ध उस प्रकार एक एक पदार्थ मात्र नहीं होता है। वह परम्परासम्बन्ध तो परस्पर विशेषणविशेष्यभाव से युक्त भिन्न भिन्न अनेक पदार्थों से बना हुआ अलग ही पदार्थविशेष होता है। उस परम्परासम्बन्ध स्वरूप पदार्थविशेष में जो विशेष्यभूत पदार्थ होता है वह प्रकृत अनुयोगी में प्रकृत प्रतियोगी का सम्बन्ध नहीं बन सकता। किन्तु, उस विशेष्य का जो विशेषणीभूत पदार्थ है, उसका प्रतियोगी के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही, उस विशेषण से विशिष्ट वह विशेष्यपदार्थ प्रकृत अनुयोगी में प्रकृत प्रतियोगी का सम्बन्ध बनता है। जैसे 'स्वसंयोगिसंयोगेन वह्निमान् देशः' इस स्थल में संयोगसम्बन्ध से देश के वह्नि रहित होने पर भी स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध से वह्निप्रकारक देशविशेष्यक ज्ञान होता है। यहाँ स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध परम्परासम्बन्ध है। यहाँ विशिष्टसम्बन्ध का घटक जो विशेष्य स्वरूप द्वितीय संयोग पदार्थ है, वह अपने विशेषण को छोड़कर स्वतन्त्ररूप से, वह्नि से असंयुक्त देश स्वरूप प्रकृत अनुयोगी में प्रकृत

प्रतियोगी का सम्बन्ध नहीं बन सकता । किन्तु, उस सम्बन्ध के अंतर्गत 'संयोगी' अंश में विशेषणीभूत जो संयोग स्वरूप प्रतियोगी का सम्बन्ध है उसके सापेक्ष होकर ही (प्रकृत प्रतियोगि में प्रकृत अनुयोगि का सम्बन्ध बनता है ।) अथवा उस (= संयोगी अंश में विशेषणभूत) संयोग अंश में 'स्व' पद के द्वारा सूचित प्रकृत प्रतियोगी में स्थित 'प्रतियोगित्व' रूप सम्बन्ध के सापेक्ष होकर ही वह स्वसंयोगिसंयोग सम्बन्ध प्रतियोगी वह्नि का सम्बन्ध बनता है।

[सु.३२] नव्यनैयायिक अन्य पद्धति से भी साक्षात्सम्बन्ध और परम्परासम्बन्ध की विलक्षणता को सिद्ध करते हैं । वह इस प्रकार कि – संयोगत्व मात्र से अवच्छिन्न जो सम्बन्ध, उससे अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक ऐसा वह्निसामान्य के अभाववत्ता का जो निश्चय होता है वह निश्चय संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न वह्नि जिसमें प्रकार हो ऐसी बुद्धि का प्रतिबन्धक है – ऐसा कहा जाता है । इस प्रतिबध्य–प्रतिबन्धकभाव के स्थल में प्रतिबध्यतावच्छेदक के अन्तर्गत इतरवारकपर्याप्ति का निवेश करके –'संयोगत्व मात्र से अवच्छिन्न संसर्गता निरूपक ऐसी वह्निमत्ता (वह्नि) विषयक बुद्धि के प्रति ऊपर कहा गया निश्चय प्रतिबन्धक होता है'–ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है। क्योंकि जैसा पूर्व में कहा गया वैसा वह्निसामान्य के अभाववत्ता का निश्चय होने की दशा में, जैसे – 'संयोगसम्बन्ध से वह्निवाला है' – ऐसी बुद्धि नहीं होती है, वैसे ही – 'महानसीयसंयोगसम्बन्ध से वह्निवाला है' – इस प्रकार की बुद्धि भी नहीं होती है। इसी कारण से ऊपर कहे गये प्रतिबध्यनिश्चय की प्रतिबध्यतावच्छेदकता के अन्तर्गत, प्रकारतावच्छेदक और संसर्गतावच्छेदक स्वरूप इतरवारक (पर्याप्ति) का निवेश किये बिना ही ऊपरोक्त प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी चाहिए। अब ऊपर की विचारणा के अनुसार एक बड़ी शंका खड़ी होती है कि – पूर्व में जो कहा गया तदनुसार, संयोगत्व मात्र से अवच्छिन्न संसर्गता की निरूपक जो प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता के निरूपक वह्निसामान्य के अभाववत्ता का निश्चय होने पर जैसे – 'महानसीयसंयोगसम्बन्ध से वह्निवाला है' – यह बुद्धि नहीं होती है उसी प्रकार ऊपरोक्त वह्न्यभावप्रकारवाला निश्चय होने पर 'स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध से वह्निवाला है' – ऐसा ज्ञान भी नहीं होना चाहिए।[१३] इस दोष का निवारण करने के लिए – 'जहाँ साक्षात्सम्बन्ध हो वहाँ सम्बन्ध में एक ही संसर्गता रहती है तथा

जहाँ परम्परासम्बन्ध हो वहाँ सम्बन्ध में दो संसर्गता रहती है' – ऐसा स्वीकार करके साक्षात्सम्बन्ध के स्थल में एक ही संसर्गता में प्रकारतानिरूपितत्व तथा विशेष्यतानिरूपितत्व का अन्वय करना चाहिए तथा परम्परासम्बन्ध के स्थल में दो संसर्गताओं में से एक संसर्गता में प्रकारतानिरूपितत्व का और दूसरी संसर्गता में विशेष्यतानिरूपितत्व का अन्वय करना चाहिए। इतनी स्पष्टता के बाद यदि – 'प्रकृतस्थलीय विशेष्यता से निरूपित ऐसी संयोगत्व से अवच्छिन्न जो संसर्गता, उस संसर्गता से निरूपित प्रकृतस्थलीय जो प्रकारता तादृशप्रकारतानिरूपकबुद्धित्व ही प्रतिबध्यतावच्छेदक है।' – ऐसा स्वीकार करते हैं तो पूर्वोक्त दोष नहीं रहता है। क्योंकि स्वसंयोगिसंयोग स्वरूप जो परम्परासम्बन्ध है उसमें दो संसर्गता है जिनमें से एक संसर्गता प्रथम संयोग और दूसरी संसर्गता द्वितीय संयोग में रहती है तथा उन दो संसर्गताओं में से पहली संसर्गता प्रकारता से निरूपित होती है और दूसरी संसर्गता विशेष्यता से निरूपित होती है। किन्तु उन दोनों संसर्गताओं में से एक भी संसर्गता विशेष्यता और प्रकारता दोनों से निरूपित नहीं होती है। इस प्रकार उस संसर्गता के एकत्व द्वित्व आदि भेद के द्वारा भी साक्षात्सम्बन्ध और परम्परासम्बन्ध की अलगता को सिद्ध किया जा सकता है।

❊ टिप्पणी ❊

१२. 'रूपवान् घटः' इस ज्ञान में रूपत्व आदि तीन पदार्थ भासित होते हैं, अतः ये तीन पदार्थ ज्ञान के अवच्छेदक बनते हैं और उन तीनों में ज्ञान की अवच्छेदकता नामक विषयता रहती हैं। अब यह अवच्छेदकता नामक विषयता विशेष्यता और विशेषणता नामक विषयता से भिन्न है। अतः इस अवच्छेदकता नामक विषयतावाले तीनों पदार्थों में सम्बन्ध का लक्षण चला जायेगा और रूपत्व तथा घटत्व में अतिव्याप्ति आयेगी। किन्तु जगदीशतर्कालंकार आदि नैयायिको का मत यह है कि – एक ही वस्तु में यदि दो विषयता रहती है तो वे दोनों परस्पर अभिन्न होती हैं। (इस सिद्धान्त का विशेष विवरण – सुप्रभा ११५ में देखें) अतः यह अवच्छेदकता नामक जो विषयता है वह विशेषणता अथवा विशेष्यता से भिन्न नहीं है। इस कारण से अतिव्याप्ति का प्रसंग नहीं होता है।

१३. संयोगत्वमात्रावच्छिन्नसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्निसामान्याभाव का निश्चय जहाँ हो वहाँ शुद्धसंयोगसम्बन्ध से तथा महानसीयसंयोगसम्बन्ध से

वह्नि का ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध से वह्नि का ज्ञान होने में कोई आपत्ति नहीं है। अब यहाँ प्रतिबध्य–प्रतिबन्धकभाव का निर्णय करते वक्त, ऊपरोक्त निश्चय किस ज्ञान का प्रतिबन्धक बनता है ? – इस प्रश्न के उत्तर में यदि ऐसा कहें कि – 'संयोगत्व मात्र से अवच्छिन्न संसर्गताक वह्निमत्ताबुद्धि के प्रति ऊपरोक्त निश्चय प्रतिबन्धक है' – तो महानसीयसंयोगसम्बन्ध से वह्नि का ज्ञान प्रतिबध्य नहीं बनेगा। क्योंकि महानसीयसंयोगसम्बन्ध–महानसीयत्व और संयोगत्व – इन दो धर्मों से अवच्छिन्न सम्बन्ध है, केवल संयोगत्व मात्र से अवच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। अब यदि ऐसा कहें कि – 'संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न वह्निप्रकारक बुद्धि के प्रति ऊपरोक्त निश्चय प्रतिबन्धक है' – तो शुद्धसंयोगसम्बन्ध से तथा महानसीयसंयोगसम्बन्ध से तो वह्नि का ज्ञान प्रतिबध्य होगा, उसके साथ साथ में स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध से भी वह्नि का ज्ञान प्रतिबध्य हो जायेगा। क्योंकि स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध में भी संयोगसम्बन्ध तो है ही। इस आपत्ति का निवारण करने के लिए प्रस्तुत स्थल में प्रतिबध्य–प्रतिबन्धकभाव की कल्पना किस तरह करनी चाहिए ? इस का समाधान प्रस्तुत टीकांश में बताया गया है।

※ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ※

[न. ८] समवायश्च षष्ठपदार्थतया कणादेनोक्तो नित्यः सम्बन्ध। यथा–'रूपवान् ब्राह्मणोऽयं चलति' इत्यादौ ब्राह्मणत्व–जातेः, रूपगुणस्य, चलनक्रियायाश्च ब्राह्मणे समवायः सम्बन्धः। यावदाधारं यावदाधेयं वा समवायस्तिष्ठतीति 'समवायो नित्यः सम्बन्ध' इत्युच्यते। समवायस्यैव 'अयुतसम्बन्ध' इति नामान्तरम्। संयोगादिकन्तु नैवम्। सतोरपि आधाराधेययोः (दण्डपुरुषयोः) संयोगादेरपायदर्शनात्।

संयोगश्च कणादोक्तगुणविशेषः। अभावादेः सम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः। यथा–'भूतले पटो नास्ति' इत्यादौ भूतले पटाभावस्य स्वरूपसम्बन्धः प्रतीयते। स्वरूपसम्बन्धस्यैव 'विशेषणता' इति नामान्तरम्।

☼ सुप्रभा ☼

[सु.३३] 'रूपवान् ब्राह्मणोऽयं चलति' इत्यादिस्थले ब्राह्मणरूपद्रव्ये जातेर्गुणस्य क्रियायाश्च सम्बन्धः समवाय इति–

"घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥"

इत्यादौ कारिकावल्युक्तानुशासनाज्ज्ञातव्यम् । नैयायिकशिरोमणिर्विश्वनाथन्यायपञ्चाननः निजनिर्मितकारिकावल्या स्वरचितप्रसिद्धसिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां "समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्" इत्येवं समवायलक्षणमगादीत् ।

[सु.३४] मूले 'यावदाधारं यावदाधेयं वा' इत्यत्र वैकल्पिकरूपेण पक्षद्वयस्योपपादनं न कृत्वा यदि तत्स्थले समवायस्य नित्यत्ववर्णनावसरे 'यावदाधारं तिष्ठति' इत्येव केवलं हेतुरूपेण उपन्यस्यते तदा घटादिगतरूपादिसमवायविषये प्रोक्तहेतोरुपपत्तिर्न भवति, यतः रूपादेः समवायस्य रूपादिसापेक्षत्वात् रूपादेरुत्पत्तेः पूर्वं प्रथमक्षणीये उत्पद्यमाने घटे रूपादेरवर्तमानत्वात् तत्र रूपादिसापेक्षस्य रूपादिसमवायस्यापि असत्त्वात् तस्य यावदाधारस्थितिर्नोपपद्यते । अत एव विकल्पतया यावदाधेयस्थितिर्हेतुत्वेन उपन्यस्ता । 'यावदाधेयं तिष्ठति' इत्यस्यैव समवायस्य नित्यत्वविषये हेतुत्वेन उपन्यासे घटादिगतघटत्वसमवाये प्रोक्तहेतोरुपपत्तिर्न भवति, यतः प्रलये समेषां घटानां नाशे घटत्वादिजातिरूपाधेये सत्यपि आश्रयाभावे तत् कुत्रापि स्थातुं नार्हति । यदि प्रलयदशायां यथा घटत्वादिजातेः काले सत्तां स्वीकृत्य तस्या नित्यत्वम् उपपाद्यते, तथैव प्रलये घटत्वादिसमवायस्यापि कालवृत्तित्वं अङ्गीक्रियते, तर्हि तस्योपपत्तिर्भवितुमर्हति । प्रोक्तहेतुमूलकसमवायस्य नित्यत्ववादः 'पृथिव्यां गन्धस्य समवायो न जले इत्यादिप्रतीतेः समवायस्य नानात्वमिति तु नव्याः' इत्यादौ दिनकरीग्रन्थसूचितनव्यमतसिद्धे समवायस्य नानात्वसिद्धान्तकल्पे सुष्ठूपपद्यते ।

[सु.३५] 'अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धिः' इत्येवं विश्वनाथोक्तनित्यसम्बन्धे अनन्तस्वरूपसम्बन्धत्वेन कल्पिते गौरवाल्लाघवानुरोधेन एकस्य समवायस्य सिद्धौ तद्ग्रन्थसूचितसमवायैकविषयकमतानुसारं गगनादिगतद्रव्यत्वादिसमवायस्य तथा घटादिगतरूपादिसमवायस्याभिन्नत्वे तस्य त्रैकालिकत्वादिरूपं नित्यत्वं मुख्यतयैव उपपद्यते ।

[सु.३६] 'यु मिश्रणे अमिश्रणे च' इत्यमिश्रणार्थकयुधातोः क्तप्रत्ययेन युतशब्दे निष्पन्ने, 'न युतौ अयुतौ, तयोः सम्बन्धः अयुतसम्बन्धः' इत्येवंरूपेण निष्पन्नस्य मूलग्रन्थस्थस्यायुतसम्बन्धस्यार्थः 'यौ पदार्थौ (तयोः सत्ताकाले) पृथगाधाराधेयभावेन नोपतिष्ठतस्तावयुतौ, तयोः सम्बन्धः अयुतसम्बन्धः' इति। विषयोऽयं 'अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवाय' इत्यस्य प्रशस्तपादभाष्यस्य न्यायकन्दलीटीकायां श्रीधराचार्येण विवृतः। तद्यथा 'युतसिद्धिः पृथक्सिद्धिः पृथगवस्थितिः उभयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा ययोर्नास्ति, तावयुतसिद्धौ, तयोः सम्बन्ध समवायः । यथा तन्तुपटयोः' इति।

[सु.३७] अयमर्थः युतसिद्धिशब्दस्यार्थः पृथक्सिद्धिः पृथग्भावेनावस्थिति-रर्थात् सम्बन्धिद्वयस्य पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा च युतसिद्धिः ययोः सम्बन्धिपदार्थयोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ, तयोः सम्बन्धः समवायः, यथा तन्तुपटयोः सम्बन्धः, इति । तद्भाष्यस्य सूक्तिटीकायां जगदीशेनैवं व्याख्यातम् "अयुतसिद्धानाम् अपृथक्भूतानां सर्वदा मिथः समवेतानामिति यावत्," इति। अयुतसिद्धौ अपृथग्भूतौ (द्वयोः सत्ताकाले) सर्वदा मिलितभावेनैवावस्थितौ इत्यस्य निष्कृष्टार्थः । सेतुटीकाकारः पद्मनाभमिश्रः प्रोवाच "अयुतसिद्धिश्च उभयोरसम्बद्धयोरविद्यमानता" अर्थात् वस्तुद्वयस्य कदापि परस्परमसंसृष्टतया अनवस्थानमेवायुतसिद्धिरिति।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.८] महर्षि कणाद के द्वारा छठे पदार्थ के रूप में जो नित्य सम्बन्ध बतलाया गया है वह समवाय सम्बन्ध है। जैसे – 'रूपवाला यह ब्राह्मण चलता है' यहाँ ब्राह्मणत्व जाति, रूप गुण और चलने की क्रिया ब्राह्मण में समवाय संबंध से है। जब तक आधार या आधेय रहता है, तब तक समवाय सम्बन्ध रहता है इसलिये 'समवाय नित्य संबंध है' ऐसा कहा जाता है। 'अयुतसम्बन्ध' समवाय का ही दूसरा नाम है। समवाय की तरह संयोग आदि संबंध नित्य नहीं है, क्योंकि आधार और आधेय (जैसे दण्ड और पुरुष) के होते हुए भी संयोग आदि संबंधों का अपाय (=नाश) देखा जाता है।

'संयोग' महर्षि कणाद के द्वारा कहे गये सोलह विशेष गुणों में से एक है। अभावादि का सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध है। जैसे 'भूतल पर पट नहीं है' यहाँ भूतल में पटाभाव का स्वरूपसम्बन्ध प्रतीत होता है। स्वरूपसम्बन्ध का ही 'विशेषणतासम्बन्ध' ऐसा दूसरा नाम है।

[सु.३३] 'रूपवाला यह ब्राह्मण चलता है' इस वाक्य में ब्राह्मण स्वरूप द्रव्य में जाति का, गुण का और क्रिया का सम्बन्ध समवाय है। यह बात – 'घट आदि (अवयवि) का कपाल आदि (अवयव) में, द्रव्य में गुण और कर्म का तथा द्रव्य, गुण और कर्म में जाति का सम्बन्ध समवाय कहा जाता है'–इस प्रकार कारिकावली में कहे गये सिद्धान्त से जानना चाहिए। नैयायिकशिरोमणि विश्वनाथ न्यायपंचानन ने अपनी कारिकावली नामक कृति की स्वरचित सिद्धान्तमुक्तावली नामक टीका में 'नित्य सम्बन्ध समवाय है' इस प्रकार समवाय का लक्षण बताया है।

[सु.३४] मूल में समवाय की नित्यता का वर्णन करते वक्त 'यावदाधारं यावदाधेयं वा' इस प्रकार दो पक्ष का स्वीकार किया है। उसके बजाय केवल 'यावदाधारं तिष्ठति' अर्थात् जहाँ तक आधार रहता है तब तक समवाय की स्थिति रहती है – इतना ही यदि हेतु के रूप में कहा जाये तो घटादि में स्थित रूपादि के समवाय के सम्बन्ध में ऊपरोक्त हेतु की संगति नहीं होती है। क्योंकि रूपादि का समवाय रूपादि का सापेक्ष होता है और रूपादि की उत्पत्ति के पूर्व प्रथमक्षण सम्बन्धी उत्पद्यमान घट में रूपादि तो होता नहीं और इसी कारण से रूपादि का सापेक्ष रूपादि का समवाय भी नहीं होता। अतः वहाँ यावदाधारस्थिति की संगति नहीं होती है। इसी लिए विकल्प के रूप में 'यावदाधेयस्थिति' को हेतु के रूप में कहा गया। अब यदि केवल 'यावदाधेयं तिष्ठति' अर्थात् जहाँ तक आधेय रहता है तब तक समवाय की स्थिति रहती है – इतना ही समवाय की नित्यता के हेतु के रूप में कहा जाये तो घटादि में स्थित घटत्व के समवाय के सम्बन्ध में ऊपरोक्त हेतु की संगति नहीं होती है। क्योंकि प्रलयकाल में सभी घटपदार्थों का नाश हो जाने पर घटत्वादि जातिस्वरूप आधेय होने पर भी आश्रय के अभाव में वह कहीं पर भी नहीं रह सकता है। यद्यपि प्रलयदशा में जिस प्रकार घटत्व आदि जाति की सत्ता को काल में स्वीकार करके घटत्व आदि जाति की नित्यता को सिद्ध किया जाता है उसी प्रकार यदि प्रलयकाल में

घटत्व आदि के समवाय की भी काल में वृत्तिता स्वीकार की जाये तो समवाय की नित्यता की संगति हो सकती हैं। यहाँ जिन हेतुओं से समवाय की नित्यता को सिद्ध किया गया है उन्हीं हेतुओं के द्वारा समवाय की नित्यता की चर्चा – 'पृथ्वी में गन्ध का समवाय है, किन्तु जल में नहीं – ऐसी प्रतीति होने के कारण समवाय अनेक प्रकार का है। इस प्रकार नव्यनैयायिकों का मत है।' – इस प्रकार के दिनकरीग्रन्थ में सूचित किए गए तथा नव्यमत में सिद्ध ऐसे समवायनानात्वसिद्धान्त के कल्प में अच्छी तरह से संगत की गई है।

[सु.३५] विश्वनाथ न्यायपंचानन भट्टाचार्य ने सिद्धान्तमुक्तावली में नित्यसम्बन्ध अर्थात् समवायसम्बन्ध के विषय में कहा है कि – 'अनन्त स्वरूपों की सम्बन्ध के रूप में कल्पना करने में गौरव होता है। अतः लाघव के अनुरोध से एक समवाय की सिद्धि की जाती है।' उस ग्रन्थ के अनुसार समवाय एक ही होता है। अतः उस मत में गगनादि में रहे हुए द्रव्यत्व आदि का समवाय तथा घटादि में रहे हुए रूपादि का समवाय अभिन्न होने के कारण समवाय की त्रैकालिकत्व स्वरूप नित्यता मुख्य रूप से ही सिद्ध हो जाती है।

[सु.३६] 'यु मिश्रणे अमिश्रणे च' (= यु धातु मिश्रण तथा अमिश्रण अर्थ में होता है) इस धातुपाठ में सूचित अमिश्रण अर्थ वाले यु धातु को क्त प्रत्यय लगाने पर 'युत' शब्द बनता है। मूलग्रन्थ में 'न युतौ अयुतौ, तयोः सम्बन्धः अयुतसम्बन्धः' (अर्थात् जो दो युत न हो, वे अयुत हैं, उन दोनों का सम्बन्ध अयुतसम्बन्ध है) इस प्रकार 'अयुतसम्बन्ध' की निष्पत्ति की गई है। उसका अर्थ इस प्रकार है कि–'जो दो पदार्थ उनके सत्ताकाल में पृथगाधाराधेयभाव से नहीं रहते हैं, वे अयुत हैं। उन दोनों का सम्बन्ध समवाय है।' 'अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवाय' (अर्थात् अयुतसिद्ध ऐसे आधार्य्याधारभूत पदार्थों के इहप्रत्यय का हेतु जो सम्बन्ध है वह समवाय है) – इस प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दलीटीका में श्रीधराचार्य ने 'युतसिद्धि... यथा तन्तुपटयोः'–इन पंक्तियों के द्वारा इस विषय का विवरण किया है।

[सु.३७] उन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है। युतसिद्धि शब्द का अर्थ होता है – पृथक्सिद्धि या पृथग्भाव से अवस्थिति, अर्थात् दोनों सम्बन्धियों का पृथग् आश्रयाश्रयिभाव। वह युतसिद्धि जिन पदार्थों में नहीं है वे पदार्थ

अयुतसिद्ध कहे जाते हैं और उनका सम्बन्ध समवाय है। जैसे तन्तु और पट का सम्बन्ध समवाय हैं। प्रशस्तपादभाष्य की सुक्तिटीका में जगदीशतर्कालंकार ने ऊपरोक्त पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि – 'अयुतसिद्धानाम् अपृथक्भूतानां सर्वदा मिथः समवेतानामिति यावत्' अर्थात् जो दो पदार्थ अयुतसिद्ध हो = अपृथक्भूत हो अर्थात् उनके सत्ताकाल में सर्वदा एक दूसरे में मिलकर रहते हों (–उनका सम्बन्ध समवाय है ।) सेतुटीका के कर्ता पद्मनाभमिश्र ने अयुतसिद्धि के विषय में कहा है कि – 'अयुतसिद्धिश्च उभयोरसम्बद्धयोरविद्यमानता' अर्थात् दो वस्तुओं का कभी भी परस्पर असम्बद्ध स्वरूप में न रहना ही अयुतसिद्धि है ।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.९] सम्बन्धान्तरघटितः (यस्य सम्बन्धस्य निर्माणे सम्बन्धान्तरापेक्षा विद्यते तादृशः) सम्बन्धः परम्परासम्बन्धः । यथा–स्वसमवायिसमवेतत्वरूपेण[A] सामानाधिकरण्यनामकेन परम्परासम्बन्धेन पटे तन्तोरपि रूपमस्ति । अयञ्च सम्बन्धः समवायघटितः । एवं दण्डकमण्डलुधारिणि पुरुषे गृहे तिष्ठति सति स्वसंयोगिसंयोगित्वरूपेण[B] स्वाश्रयाश्रयत्वेन परम्परा-सम्बन्धेन दण्डकमण्डलू अपि गृहे स्त इति । अयञ्च सम्बन्धः संयोगघटितः ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.३८] प्रकृतस्वसमवायिसमवेतत्वरूपपरम्परासम्बन्धस्थले स्वपदार्थस्य तन्तुरूपस्य समवायिनि तन्तौ समवेतत्वस्य समवायसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वस्य पटे वर्तमानत्वात् 'सम्बन्धसत्ता सम्बन्धिसत्ताया नियामिका' इति नियमवशात् स्वपदग्राह्यं तन्तुरूपं तेन परम्परासम्बन्धेन पटे वर्तते । स च सम्बन्धः सामाना-धिकरण्यरूपः, यतः सामानाधिकरण्यपदार्थस्य समानाधिकरणवृत्तित्वस्य निष्कृष्टार्थः भवति स्वाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वम् । तथाहि प्रोक्तस्थले स्वपदार्थस्य

A स्वस्य तन्तुरूपस्य समवायी तन्तुः; तत्र समवेतः पट इति ।

B स्वयोः दण्डकमण्डल्वोः संयोगी (आश्रयः) पुरुषः; तस्य संयोगी (आश्रयः) गृहमिति ।

तन्तुरूपस्य समवायसम्बन्धेनाधिकरणं भवति स्वसमवायी तन्तुः, तन्निरूपित-वृत्तित्वमेव सामानाधिकरण्यम्, तस्य च वृत्तित्वस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्वात् तादृशं वृत्तित्वमेव स्वसमवायिसमवेतत्वरूपं भवति।

[सु.३९] प्रकृतस्वसंयोगिसंयोगित्वरूपपरम्परासम्बन्धस्थले स्वपदेन दण्डकमण्डलू ग्राह्यौ, तयोः संयोगी पुरुषः, तत्संयोगित्वञ्च गृहे वर्तमानम्। अत एव तादृशः सम्बन्धः स्वाश्रयाश्रयत्वरूपोऽपि भवति, यतः स्वपद-ग्राह्यदण्डकमण्डल्वोः संयोगसम्बन्धेनाश्रयस्य पुरुषस्य स्वाश्रयीभूतस्य संयोगसम्बन्धेन आश्रयत्वं गृहे वर्तते।

※ अनुवाद ※

[नव्य.९] अन्य सम्बन्ध से घटित अर्थात् जिस सम्बन्ध के निर्माण में अन्य संबंध की अपेक्षा रहती हो वैसा सम्बन्ध परम्परा सम्बन्ध कहलाता है। जैसे - स्वसमवायिसमवेतत्व रूप सामानाधिकरण्य नाम के परम्परासम्बन्ध से पट में तन्तु का भी रूप है। यह परम्परासम्बन्ध समवायसम्बन्ध से घटित हुआ है। इसी प्रकार दण्ड और कमण्डलु को धारण करनेवाला पुरुष घर में होने पर स्वसंयोगिसंयोगित्व स्वरूप स्वाश्रयाश्रयत्व नामक परम्परासम्बन्ध से दण्ड और कमण्डलु भी घर में है। यह परम्परासम्बन्ध संयोग सम्बन्ध से घटित है।

[सु.३८] यहाँ 'स्वसमवायिसमवेतत्व' स्वरूप परम्परासम्बन्ध के स्थल में - स्व = तन्तु रूप, उसका समवायी = तन्तु, उसमें समवेतत्व = समवायसम्बन्ध से वृत्तिमान् होना - यह धर्म पट में रहता है। अतः - 'सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धि के सत्ता की नियामक होती है'-इस नियम के वश से 'स्व' पद से ग्राह्य 'तन्तुरूप' उस परम्परासम्बन्ध से पट में रहता है। यहाँ जो परम्परासम्बन्ध कहा गया है, वह 'सामानाधिकरण्य' रूप सम्बन्ध है। क्योंकि स्वाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व ही समानाधिकरणवृत्तित्व स्वरूप सामानाधिकरण्य पदार्थ का निकृष्ट अर्थ है और उक्त स्थल में स्व = तन्तुरूप का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण होता है तन्तुरूप का समवायी 'तन्तु' और उससे निरूपित वृत्तित्व ही 'सामानाधिकरण्य' है। तन्तु से निरूपित वृत्तित्व समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न होने के कारण तादृश = स्वाधिकरण से निरूपित ऐसा वृत्तित्व ही स्वसमवायिसमवेतत्व होता है।[१४]

[सु.३९] मूल में उक्त 'स्वसंयोगिसंयोगित्व' स्वरूप परम्परासम्बन्ध के स्थल में 'स्व' पद से दण्ड और कमण्डलु का ग्रहण करना चाहिये। उन दोनों का 'संयोगी' पुरुष है और पुरुष का 'संयोगी' गृह है। अतः स्वसंयोगी = पुरुष का 'संयोगित्व' गृह में रहता है। यह सम्बन्ध 'स्वाश्रयाश्रयत्व' स्वरूप भी होता है। क्योंकि 'स्व' पद से ग्राह्य दण्ड और कमण्डलु का संयोग सम्बन्ध से आश्रय पुरुष है तथा पुरुष का संयोगसम्बन्ध से आश्रयत्व गृह में है।[१५]

❊ टिप्पणी ❊

१४. इस टीकांश को रेखांकन से इस तरह समझा जा सकता है –

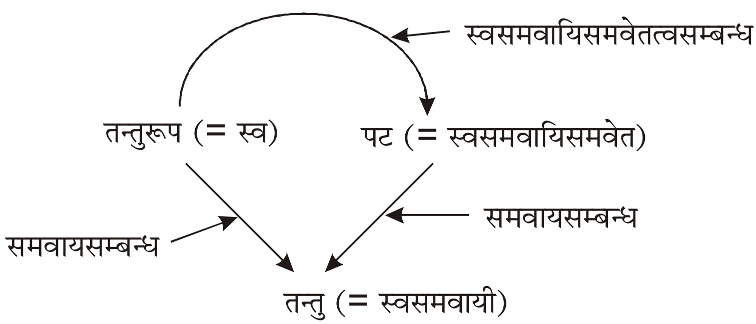

रेखांकन–१

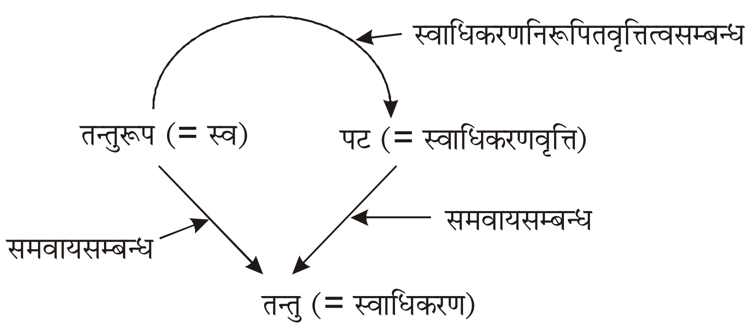

रेखांकन–२

१५. इस टीकांश को रेखांकन से इस तरह समझा जा सकता है –

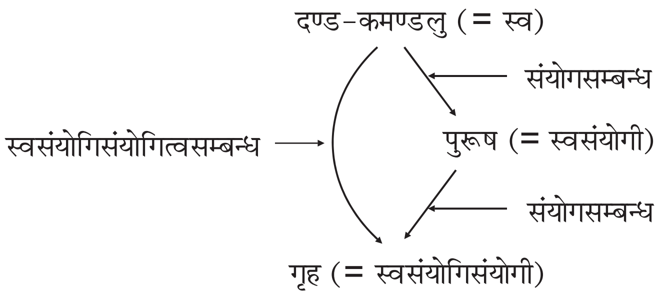

रेखांकन–१

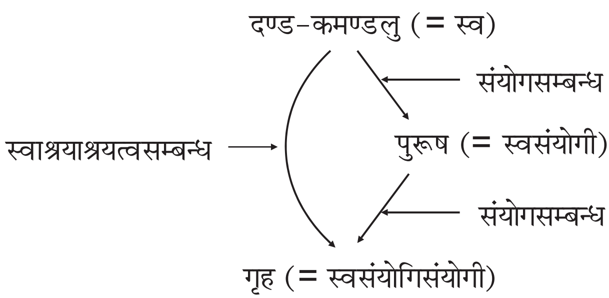

रेखांकन–२

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१०] समवायादिसाक्षात्सम्बन्धवत् परम्परासम्बन्धो न नियतसंख्यकः–नापि च नियतपरिमाणः, यथेच्छं सम्बन्धि-सम्बन्धादिकमादाय दीर्घ–दीर्घतर–दीर्घतमा असंख्या एव ते कल्पयितुं शक्यन्ते। सर्वतोऽसंसृष्टावपि पदार्थौ परम्परासम्बन्धेन सम्बद्धौ भवतः । तत्र च दूरत्वादि न प्रतिबन्धकम्। तथा हि स्वसम्राडधिकृतराज्यत्वसम्बधेन भारतवर्षीयाः सर्व एव आर्या

अनार्याश्च इंग्लेण्डे सन्ति । इंग्लेण्डीयाश्च तत्र स्थिता अपि स्वराज्येश्वरीसाम्राज्यसम्बन्धेन भारतवर्षे तिष्ठन्तीति ।

परम्परासम्बन्धस्य गूढं रहस्यमिदं, स्वशब्देन यमभिप्रेत्य यस्य परम्परासम्बन्धस्यारम्भो यस्मिंश्च पर्यवसानं, तत् तेन परम्परासम्बन्धेन तस्मिन् तिष्ठति । यथा पूर्वोक्ते उदाहरणे स्वशब्देन भारतवर्षीयानभिप्रेत्य स्वसम्राडधिकृतराज्यत्वसम्बन्धस्यारम्भः, तच्च राज्यत्वम् इंग्लेण्डे वर्तत इति तस्य इंग्लेण्डे पर्यवसानम्, अतः तेन सम्बन्धेन भारतवर्षीया इंग्लेण्डे तिष्ठन्ति ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.४०] 'सम्बन्धिसम्बन्धादिकमादाय' इत्यादिमूलग्रन्थे आदिपदेन सम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धः सम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धः इत्यादयः ग्राह्याः । तथाहि स्वसंयोगिसंयोगः सम्बन्धिसम्बन्धः, स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगः स्वसम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धः स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगिसंयोगः स्वसम्बन्धि-सम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धः । तत्सम्बन्धघटकीभूतपदार्थानामाधिक्यन्यूनतावशादेव सम्बन्धानां दीर्घत्वह्रस्वत्वे भवत इति ज्ञातव्यम् । अतः संयोगापेक्षया दीर्घः सम्बन्धः स्वसंयोगिसंयोगः, तदपेक्षया दीर्घतरः स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगसम्बन्धः । दीर्घतमश्च स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगिसंयोगसम्बन्धः । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ।

[सु.४१] स्वसम्राडधिकृतराज्यत्वरूपसम्बन्धस्थले स्वपदेन तस्य सम्बन्धस्य प्रतियोगी भारतीयव्यक्तिवर्गः ग्राह्यः । तेषां जनानां सम्राजः भारताधीश्वराः सप्तमएडओयार्डप्रभृतयः, तेषामधिकृतं राज्यं इंग्लेण्डदेशः, तत्र तादृशं राज्यत्वं विद्यते । अत एव 'सम्बन्धस्य सत्ता सम्बन्धिसत्ताया नियामिका' इति नियमानुसारेण स्वपदार्थः प्रतियोगिभूतः भारतीयव्यक्ति-वर्गस्तादृशसम्बन्धेन इंग्लेण्डदेशे वर्तते ।

[सु.४२] स्वराज्येश्वरीसाम्राज्यसम्बन्धस्थले स्वपदेन तत्सम्बन्धस्य प्रतियोगी इंग्लेण्डदेशीयजनगणः ग्राह्यः । तेषां राज्यस्य इंग्लेण्डदेशस्येश्वरी (अतीते) साम्राज्ञी विक्टोरिया । तस्या साम्राज्यस्य अर्थात् सम्राजुपयोग्याधिपत्यस्य भारतवर्षे सत्त्वात् तादृशपरम्परासम्बन्धेन लण्डनदेशीया जना भारतवर्षे वर्तन्ते ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.१०] समवाय आदि साक्षात् सम्बन्ध की तरह परम्परासम्बन्ध की संख्या निश्चित नहीं है और उसका परिमाण भी निश्चित नहीं है। अपनी इच्छा के अनुसार सम्बन्धि के सम्बन्ध आदि को ग्रहण करके दीर्घ, दीर्घतर, दीर्घतम असंख्य परम्परासम्बन्धों की कल्पना की जा सकती है। सभी और से असंसृष्ट पदार्थ भी परम्परासम्बन्ध के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते है। वहाँ दूर होना आदि प्रतिबन्धक नहीं होता। इसी कारण से स्वसम्राडधिकृतराज्यत्व सम्बन्ध से सभी आर्य और अनार्य भारतीय नागरिक इंग्लेण्ड में हैं। इंग्लेण्ड के नागरिक वहाँ रहते हुए भी स्वराज्येश्वरीसाम्राज्य सम्बन्ध से भारतवर्ष में रहते हैं।[१६]

परम्परासंबंध का गूढ़ रहस्य यह है कि 'स्व' शब्द से जिसको अभिप्रेत करके जिस परम्परासंबंध का आरंभ किया गया हो और जिस में पर्यवसान होता हो, वह उस परम्परासंबंध से उसमें रहता है। जैसे पूर्व में कहे गये उदाहरण में 'स्व' शब्द से भारतीय नागरिकों को अभिप्रेत करके से स्वसम्राडधिकृतराज्यत्व सम्बन्ध की शुरूआत हुई है और वह राज्यत्व इंग्लेण्ड में रहता है, अतः इंग्लेण्ड मे उस सम्बन्ध की समाप्ति हुई है। अतः उस संबंध से भारतीय नागरिक इंग्लेण्ड मे रहते हैं।

[सु.४०] 'सम्बन्धिसम्बन्धादिकमादाय' इस मूल ग्रन्थ में 'आदि' पद से सम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्ध; सम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्ध इत्यादि सम्बन्ध ग्रहण करने चाहिए। 'स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध' सम्बन्धिसम्बन्ध है, 'स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगसम्बन्ध' स्वसम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्ध है तथा 'स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगिसंयोगसम्बन्ध' स्वसम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्धिसम्बन्ध है। उन सम्बन्ध के घटक स्वरूप पदार्थों की न्यूनता और अधिकता के कारण ही वे सम्बन्ध लम्बे व छोटे होते हैं यह जानना चाहिए। इस कारण से संयोगसम्बन्ध की अपेक्षा से लम्बा सम्बन्ध स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्ध है। उसकी अपेक्षा से और लम्बा सम्बन्ध स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगसम्बन्ध है तथा उसकी अपेक्षा से ज्यादा लम्बा सम्बन्ध स्वसंयोगिसंयोगिसंयोगिसंयोगसम्बन्ध है।

[सु.४१] 'स्वसम्राडधिकृतराज्यत्व' इस सम्बन्ध के स्थल में 'स्व' पद से उस सम्बन्ध के प्रतियोगी स्वरूप भारतीयव्यक्तिसमुदाय को ग्रहण करना

चाहिए। उन भारतीय व्यक्तियों के सम्राट भारत के राजा सप्तम एडवर्ड आदि हैं। उन का अधिकृत राज्य इंग्लेण्ड देश है। अतः इंग्लेण्ड में तादृश राज्यत्व = स्वसम्राडधिकृतराज्यत्व रहता है। इसी कारण से 'सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक है' इस नियम के अनुसार 'स्व' पद का अर्थ स्वरूप तथा इस सम्बन्ध का प्रतियोगी ऐसा भारतीयव्यक्तिसमुदाय स्वसम्राडधिकृतराज्यत्व सम्बन्ध से इंग्लेण्ड देश में रहता है।[१७]

[सु.४२] स्वराज्येश्वरीसााम्राज्यसम्बन्ध के स्थल में 'स्व' पद से उस सम्बन्ध के प्रतियोगी स्वरूप इंग्लेण्ड देश की जनता को ग्रहण करना चाहिए। उन का राज्य जो इंग्लेण्ड देश है उसकी ईश्वरी रानी विक्टोरिया है। उस रानी विक्टोरिया का साम्राज्य अर्थात् सम्राट् का आधिपत्य भारतवर्ष में होने से स्वराज्येश्वरीसाम्राज्य सम्बन्ध से लण्डन देश के व्यक्ति भारतवर्ष में रहते हैं।[१८]

❊ टिप्पणी ❊

१६. प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना अंग्रेज़ शासन के काल में हुई है। अतः यहाँ अंग्रेज़ शासकों को भारतीयों के सम्राट के रूप में तथा भारत को रानी विक्टोरिया के साम्राज्यवर्ती देश के रूप में उल्लिखित किया गया है। अब तो यह बात भूतकाल बन चुकी है। अतः इस अंश को पढ़ते वक्त ग्रन्थरचना के समय को स्मरण में रखना चाहिए।

१७. स्वसम्राडधिकृतराज्यत्वसम्बन्ध का रेखांकन –

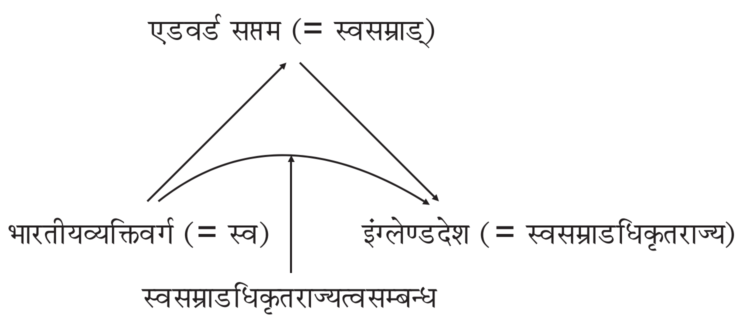

१८. स्वराज्येश्वरीसाम्राज्यसम्बन्ध का रेखांकन –

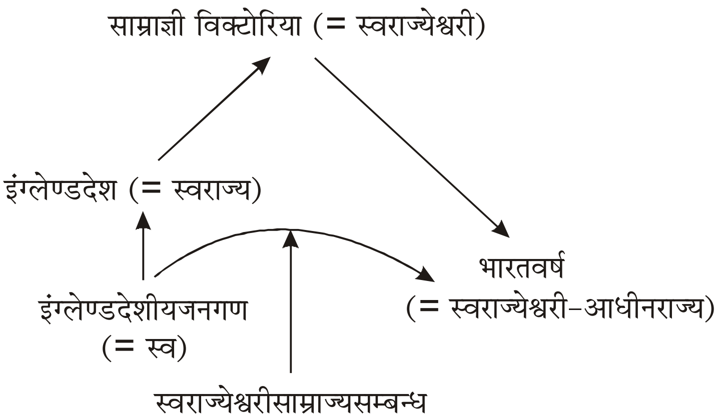

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.११] पुनश्च सम्बन्धो द्विविधः, वृत्तिनियामकः वृत्त्यनियामकश्चेति। यस्मिंश्च सम्बन्धे सति एकस्मिन् अपरस्य वृत्तिता, आधाराधेयभाव, आश्रयाश्रयिभावो वा प्रतीयते, स सम्बन्धो वृत्तिनियामकः। वृत्तिनियामकसम्बन्धस्थल आधारे सप्तमी–विभक्तिः प्रयुज्यते। यथा–भूतले घटः। आधेये च मतुबादयः प्रत्यया भवन्ति। यथा–भूतलं घटवत्।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.४३] पूर्वं साक्षात्परम्पराभेदेन सम्बन्धस्य द्वैविध्यमुक्तम्। इदानीं वृत्तिनियामकवृत्त्यनियामकभेदेन पुनः सम्बन्धस्य विभागद्वयं प्रतिपाद्यते। अतः मूले 'पुनश्च' इत्यंश उपन्यस्तः। तस्येदं तात्पर्यं यत् सम्बन्धः न केवलं साक्षात्परम्परासम्बन्धभेदेन द्विविधोऽपितु वृत्तिनियामकवृत्त्यनियामकभेदेनापि द्विविधः।

[सु.४४] वृत्तिनियामकसम्बन्धस्थले वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्थले चोभयत्र वृत्तिशब्दस्यार्थः वृत्तितार्थादाधेयता। तस्या वृत्तितायाः अर्थादाधेयतायाः नियामकः

प्रयोजकः वृत्तिनियामकस्तथा तादृशवृत्तिताया अनियामकोऽप्रयोजक एव वृत्त्यनियामकः । 'आधेयगतावृत्तिता आधारगताधारताया अर्थादधिकरणताया सापेक्षा' अत एव वृत्तिनियामकसम्बन्धस्य विवरणे ग्रन्थकृता 'वृत्तिता आधाराधयेभावः आश्रयाश्रयित्वं वा प्रतीयते' इत्युक्तम् ।

※ अनुवाद ※

[नव्य.११] सम्बन्ध के और भी दो प्रकार होते हैं, एक वृत्तिनियामक सम्बन्ध और दूसरा वृत्ति-अनियामक । जिस सम्बन्ध के होते हुए एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की वृत्तिता या दो पदार्थों में परस्पर आधार-आधेयभाव अथवा आश्रय-आश्रयीभाव प्रतीत होता हो, वह सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहलाता है । जहां वृत्तिनियामक सम्बन्ध हो वहाँ आधार में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है । जैसे - (भूतले घटः) भूतल पर घट है । उसी तरह आधेय में मतुप् आदि प्रत्यय होते है । जैसे - (भूतलं घटवत्) 'भूतल घटवाला है' ।

[सु.४३] पूर्व में साक्षात्सम्बन्ध और परम्परासम्बन्ध के भेद से सम्बन्ध के दो प्रकार बताये गये हैं। अब वृत्तिनियामकसम्बन्ध और वृत्ति-अनियामकसम्बन्ध के भेद से पुनः सम्बन्ध के दो विभाग का प्रतिपादन किया जाता है। इस कारण से मूल में 'पुनश्च' ऐसा लिखा है । उसका तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध मात्र साक्षात्सम्बन्ध और परम्परासम्बन्ध के भेद से दो प्रकार का नहीं है किन्तु वृत्तिनियामकसम्बन्ध और वृत्ति-अनियामकसम्बन्ध के भेद से भी दो प्रकार का है ।

[सु.४४] वृत्तिनियामकसम्बन्ध और वृत्ति-अनियामकसम्बन्ध इन दोनों सम्बन्ध के स्थल में 'वृत्ति' शब्द का अर्थ वृत्तिता अर्थात् आधेयता है । उस वृत्तिता अर्थात् आधेयता का नियामक या प्रयोजक जो होता है वह वृत्तिनियामक कहा जाता है तथा वृत्तिता का अनियामक या अप्रयोजक जो होता है वह वृत्ति-अनियामक कहा जाता है । आधेय में रहने वाली वृत्तिता आधार में रहनेवाली आधारता अर्थात् अधिकरणता की सापेक्ष होती है । इसी कारण से वृत्तिनियामकसम्बन्ध के विवरण में ग्रन्थकार ने-(वृत्तिनियामकसम्बन्ध के स्थल में एक में दूसरे की) वृत्तिता अथवा आधाराधेयभाव अथवा आश्रयाश्रयित्व प्रतीत होता है-ऐसा कहा है ।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१२] वृत्तिनियामकसम्बन्धाश्च समवाय-संयोग-स्वरूपप्रभृतय एव केचन । तेषु सम्बन्धेषु सत्सुपृथिव्यां रूपं, कुण्डे बदरं, भूतले घटो नास्तीत्यादिप्रयोगात् । समसूत्रपातेन स्थितयोरुभयोः संयोगोऽपि न वृत्तिनियामकः । अत एव अञ्जलि-रूपतया समसूत्रपातेन स्थितयोर्हस्तयोः संयोगो न वृत्तिनियामक इति तत्र न 'हस्ते हस्त' इति प्रयोगः ।

तयोरेव हस्तयोः उपर्यधोभावेन स्थितयोः पुनः संयोगो वृत्तिनियामक इति तत्र 'हस्ते हस्त' इति प्रयोगोऽपि भवति ।

यस्मिंस्तु सम्बन्धे पूर्वोक्तरूपा वृत्तिता आधाराधेयभावश्च न प्रतीयते, केवलं सम्बन्धितामात्रं, स वृत्त्यनियामकः सम्बन्धः । तत्र सप्तमीविभक्तेः मतुबादिप्रत्ययस्य च प्रयोगो न भवति । किन्तु सम्बन्धित्वबोधका इन्-ईय-प्रभृतयः प्रत्ययाः प्रयुज्यन्ते । यथा-स्वत्वसम्बन्धो न वृत्तिनियामक इति मन्त्रिणि सत्यपि स्वत्वसम्बन्धे 'मन्त्री राजवान्' इति, किंवा 'मन्त्रिणि राजा' इति न प्रयोगः, किन्तु 'राजकीयो मन्त्री' इति प्रयोगः ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.४५] मूले 'समसूत्रपातेन स्थितयोः' इत्यस्य तात्पर्यमुपर्यधो-भावेनाधाराधेयरूपेण अनवस्थितयोरिति । उदाहरणोक्तमञ्जलिबद्धं हस्तद्वयं परस्परं पार्श्ववर्तिरूपेणावतिष्ठते, न तु उपर्यधोभावेन इति प्रत्यक्षसिद्धम् । अत एव तयोः पारस्परिकः सम्बन्धः वृत्त्यनियामकः ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.१२] वृत्तिनियामक सम्बन्ध समवाय, संयोग, स्वरूप आदि कुछेक ही हैं । उनके रहने पर ही 'पृथ्वी में रूप है', 'कुण्ड में बदर है' और 'भूतल पर घट नहीं है', आदि वाक्यों का प्रयोग होता है । यद्यपि समसूत्रपात अर्थात् एक दूसरे के पास में रहे हुए दो पदार्थों का संयोग भी

वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण से अंजलि रूप में स्थित दो हाथों का संयोग वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है और वहाँ (हस्ते हस्तः) हाथ पर हाथ है, ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

वहीं दो हाथ यदि एक दूसके के ऊपर-नीचे स्थित हों तो उनका संयोग वृत्तिनियामक सम्बन्ध होता है और वहाँ (हस्ते हस्तः) हाथ पर हाथ है, ऐसा प्रयोग भी होता है।

जिस सम्बन्ध के होने पर पूर्व में कही गई वृत्तिता या आधार-आधेय भाव की प्रतीति न हो किन्तु सम्बन्ध के होने मात्र का भान हो, वह वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध कहलाता है। वहाँ पर सप्तमी विभक्ति का अथवा मतुप् आदि प्रत्ययो का भी प्रयोग नहीं होता है। वहाँ पर सम्बन्धित्व को बताने वाले इन्, ईय आदि प्रत्ययो का प्रयोग होता है। जैसे - स्वत्व रूप सम्बन्ध वृत्तिनियामक नहीं है। अतः मन्त्री में राजा के स्वत्व का सम्बन्ध होने पर भी (मन्त्री राजवान्) 'मन्त्री राजा वाला है' अथवा (मन्त्रिणि राजा) 'मन्त्री में राजा है', एसा प्रयोग नहीं होता है, किन्तु (राजकीयो मन्त्री) 'राजा का मन्त्री है', ऐसा प्रयोग होता है।

[सु.४५] मूल में 'समसूत्रपातेन स्थितयोः' ऐसा जो कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि - एक दूसरे के ऊपर नीचे रहने स्वरूप आधाराधेयभाव से जो न रहे हो (वैसे दो पदार्थों का संयोग वृत्तिनियामक नहीं होता है।) उदाहरण के रूप में कथित - 'अंजलि रूप में बन्धे हुए दो हाथ एक दूसरे के पास में रहते हैं, किन्तु एक दूसरे के ऊपर नीचे नहीं रहते हैं'-यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इसी कारण से अंजलि रूप में बन्धे हुए दो हाथों का परस्पर संयोग सम्बन्ध वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१३] परम्परासम्बन्धाः प्रायशः सर्व एव वृत्त्यनियामकाः। अत एव शिखिनि पुरुषे गृहे तिष्ठति स्वाश्रयपुरुषाश्रयत्वसम्बन्धेन 'शिखावद् गृहम्' इति न प्रयोगः।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.४६] मूले प्रतिपादितं यत् परम्परासम्बन्धः वृत्त्यनियामकः । अत एव यदा गृहे शिखी पुरुषः विद्यते तादृशं गृहं बोधयितुं 'स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन शिखावद् गृहमिति न प्रयुज्यते, यतः मतुबादिप्रत्यय आधाराधेयभावप्रत्यायकः । परन्तु एतन्मतं न सर्ववादिसम्मतम्, यतः मतुबादिप्रत्ययानामर्थः सम्बन्धित्वं न त्वधिकरणत्वम् । अत एव वृत्त्यनियामकपरम्परासम्बन्धस्थलेऽपि गृहादौ स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन शिखादिसम्बन्धित्वस्य सत्त्वात् शिखावद् गृहम् इति प्रतीतिरबाधिता ।

[सु.४७] उक्तरूपपरम्परासम्बन्धस्थले पूर्वाचार्यैः मतुप्प्रत्ययस्य प्रयोगः दृश्यते । यथा तत्त्वचिन्तामणेः सिद्धान्तलक्षणे रघुनाथशिरोमणिमहोदयोक्त-दण्ड्यादिकल्पस्य व्याख्यायां जगदीश उक्तवान् यत् 'स्वाश्रयाश्रयत्वलक्षण-परम्परासम्बन्धेन दण्डत्ववतो दण्डिनः' इत्यादि । सामान्यनिरुक्तिग्रन्थे गादाधरीटीकायां दृश्यते' 'स्वावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन साध्यतावच्छेदकवत्त्वमेवाभावस्य साध्याभाववद्-वृत्तित्वरूपं व्याप्तिघटकम्' इत्यादि । एतादृशा नैकेऽपि प्रयोगाः परिलक्ष्यन्ते ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.१३] प्रायः करके सभी परम्परासम्बन्ध वृत्ति-अनियामक होते हैं । इस प्रकार से ही शिखावाला पुरुष घर मे होने पर भी स्व-आश्रय-पुरुष-आश्रयत्व संबंध से (शिखावद् गृहम्) शिखावाला घर है, एसा प्रयोग नहीं होता है ।

[सु.४६] मूल में प्रतिपादन किया गया है कि परम्परासम्बन्ध वृत्ति-अनियामक होते हैं । इसी कारण से जब गृह में शिखावाला पुरुष रहता है तब उस गृह को बताने के लिये – स्वाश्रयाश्रयत्व सम्बन्ध से शिखावाला गृह है – ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता है, क्योंकि मतुप् आदि प्रत्यय आधाराधेयभाव की प्रतीति कराता है और परम्परासम्बन्ध वृत्तिता अथवा आधाराधेयभाव का नियामक नहीं है । परन्तु यह मत सभी वादियों को सम्मत नहीं है क्योंकि (अन्य वादियों के मत में) मतुप् आदि प्रत्ययों का अर्थ सम्बन्धित्व (सम्बन्ध वाला होना) है, किन्तु अधिकरणत्व नहीं है । इस कारण से वृत्ति-अनियामक ऐसे परम्परासम्बन्ध के स्थल में भी घर आदि में स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्ध से शिखादि

का सम्बन्धित्व होने से 'शिखावाला घर है' ऐसी प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।

[सु.४७] स्वरूप से वृत्ति-अनियामक ऐसे परम्परासम्बन्ध के स्थल में पूर्वाचार्यों के द्वारा मतुप् प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है। जैसे तत्त्वचिन्तामणि के सिद्धान्तलक्षण में रघुनाथ शिरोमणि महोदय के द्वारा कहे गये दण्ड्यादिकल्प की व्याख्या में जगदीश तर्कालंकार ने लिखा है कि-'स्वाश्रयाश्रयत्वलक्षण-परम्परासम्बन्धेन दण्डत्ववतो दण्डिनः...' इत्यादि। यहाँ परम्परासम्बन्ध के स्थल में मतुप् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। सामान्यनिरुक्ति ग्रन्थ की गादाधरी टीका के-'स्वावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन साध्यतावच्छेदकवत्त्वमेवाभावस्य साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपं व्याप्तिघटकम्'- इस स्थल में भी परम्परासम्बन्ध में मतुप् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के अन्य भी अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१४] कालिकनामकः सम्बन्धः कश्चिद् वृत्तिनियामकः, कश्चिच्च वृत्त्यनियामकोऽस्ति ◐। वृत्तिनियामकेन कालिक-सम्बन्धेन काले सर्वं वर्तते। स च कालः महाकालरूपः खण्डकालरूपश्च। 'काले सर्वम्' इति महाकालविषयिणी प्रतीतिः। 'अस्मिन् मासे शीताधिक्यम्', 'अद्य वृष्टिर्जाता' इत्यादयश्च खण्डकालविषयिण्यः प्रतीतयः। वृत्त्यनियामकः कालिकस्तु स्वाश्रयकालाश्रितत्वरूपः परम्परासम्बन्धः। तेन

◐ महाकालखण्डकालयोर्वृत्तितानियामकः 'कालिकविशेषणता'नामकः कश्चित् साक्षात्सम्बन्धोऽस्ति। केचित्तु कालिकविशेषणतासम्बन्धेन वस्तु महाकाल एव वर्तते। न तु खण्डकालेऽपि। 'क्रियैव काल' इति गमनस्पन्दनादिरूपः क्रियाविशेष एव खण्डकालः। तस्मिन् स्वाश्रयकालाश्रितत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन तत्समकालीनं सर्वमेव वर्तते। खण्डकाले च अयं परम्परासम्बन्धो वृत्तिनियामकः। तत्रायं विशेषः- यदा खण्डकालस्य गमनादिक्रियारूपस्य कालवाचकेन वत्सरमासदिनक्षणादिशब्देन इदानींतदानींप्रभृतिशब्देन वा (तत्तत्कालत्वेन प्रत्ययार्थे) प्रयोगः, तदेवायं परम्परासम्बन्धो वृत्तितानियामकः। क्रियावाचकेन गमनस्पन्दनादिशब्देन प्रयोगे न वृत्तितानियामकः। अत एव 'इदानीं घटः' 'अस्मिन् दिने घटः' इत्यादि प्रयोगवत् 'गमने घटः' इति न प्रयोगः।

सम्बन्धेन सर्वं सर्वत्र वर्तते । तथाहि गृहस्याश्रयः यः कालः तस्मिन् काले पुरुषोऽपि वर्तत इति स्वाश्रयकालाश्रितत्वसम्बन्धेन (स्वस्य गृहस्य आश्रयः कालः तदण्डश्रतः पुरुषः) गृहमपि पुरुषे वर्तते ।

※ सुप्रभा ※

[सु.४८] जन्यवस्तुमात्रं खण्डकालः । तस्य जन्यवस्तुनः स्वसमान-कालीनत्वे सत्येव तस्मिन् कालिकसम्बन्धेन वस्तु तिष्ठति । तं सिद्धान्तं स्वीकृत्यैव कालिकसम्बन्धीयवृत्तितास्थले स्वाश्रयकालाश्रितत्वरूपः परम्परासम्बन्धः कल्पितः ।

[सु.४९] 'तेन सम्बन्धेन (स्वाश्रयकालाश्रितत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन) सर्वं सर्वत्र वर्तते' इति मूलगतपादटीकास्थले गगनादिनित्यद्रव्याणां कालिक-सम्बन्धेनापि अवृत्तित्वमतानुसारं सङ्कोचवृत्तितां स्वीकृत्य नित्यद्रव्यातिरिक्तानि सर्वाणि वस्तूनि नित्यद्रव्यातिरिक्तेषु सर्वेषु वस्तुषु वर्तन्ते इत्येवमर्थः करणीयः । वस्तुतस्तु 'सर्वत्र' इत्यस्य नित्यद्रव्यातिरिक्तेषु सर्वेषु वस्तुषु इत्येवमर्थमकृत्वा नित्यसामान्यातिरिक्तेषु समकालीनेषु सर्वेषु वस्तुषु तिष्ठन्तीत्येवमर्थे स्वीकृते स्वसमानकालीनेषु जन्यवस्तुमात्रेष्वेव कालिकसम्बन्धेन वस्तूनि तिष्ठन्तीति प्रसिद्धसिद्धान्तेन सह समता सङ्गच्छेत । स्वाश्रयकालाश्रितत्वसम्बन्धे 'जन्यत्वे सति' इत्येवं निर्देशस्तस्य साम्यस्य अक्षतये एव कर्तव्यः ।

※ अनुवाद ※

[नव्य. १४] कालिक नाम का सम्बन्ध कोई वृत्तिनियामक है और कोई वृत्ति-अनियामक है । वृत्तिनियामक कालिक सम्बन्ध से सभी पदार्थ काल में रहते हैं । वह काल महाकाल स्वरूप और खण्डकाल स्वरूप है । काल में सब पदार्थ रहते हैं (काले सर्वम्) यह प्रतीति महाकाल विषयक है । 'इस मास में ठण्डी की अधिकता है', 'आज बारिश हुई' - ये सभी खण्डकाल विषयक प्रतीति हैं । वृत्ति-अनियामक कालिकसम्बन्ध तो 'स्वाश्रयकालाश्रितत्व' रूप परम्परासम्बन्ध होता है । उस सम्बन्ध से सभी पदार्थ सभी जगह रहते हैं । जैसे घर का आश्रय जो काल है, उसी काल में पुरुष भी रहता है, अतः

स्वाश्रयकालाश्रितत्व सम्बन्ध से घर भी पुरुष में रहता है। (स्व अर्थात् घर का आश्रय जो काल है, उस काल में आश्रित पुरुष है।)

[सु.४८] सभी जन्य वस्तु खण्डकाल स्वरूप हैं। वह जन्य वस्तु अपने समान कालीन होने पर ही, कोई भी वस्तु कालिकसम्बन्ध से उस जन्य वस्तु में रहती है, अन्यथा नहीं। इस सिद्धान्त को स्वीकार करके ही कालिकसम्बन्ध की वृत्तिता के स्थल में स्वाश्रयकालाश्रितत्व स्वरूप परम्परासम्बन्ध की कल्पना की गई है।[१९]

[सु.४९] 'तेन सम्बन्धेन सर्वं सर्वत्र वर्तते' - इस मूलग्रन्थ[२०] का अर्थ करते वक्त-'गगनादिनित्यद्रव्य कालिकसम्बन्ध से भी कहीं नहीं रहते हैं'-इस मत का अनुसरण करने के लिए संकोचवृत्तिता[२१] को स्वीकार करके 'नित्यद्रव्य से अन्य सभी वस्तु नित्यद्रव्य से अन्य सभी वस्तुओं में रहती हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिए। वास्तविक रीति से तो 'सर्वत्र' इस पद का - 'नित्यद्रव्य से अन्य सभी वस्तुओं में' - ऐसा अर्थ न करके -'नित्य सामान्य = सभी नित्य वस्तुओं से अन्य समकालीन सभी वस्तुओं में' - ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर 'स्वसमानकालीन सभी जन्यवस्तुओं में कालिकसम्बन्ध से वस्तु रहती है'-इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के साथ समानता सिद्ध हो जाती हैं। इस समानता की रक्षा के लिए ही स्वाश्रयकालाश्रितत्वसम्बन्ध में 'जन्यत्वे सति' इतना निर्देश करना चाहिए।

❊ टिप्पणी ❊

१९. स्वाश्रयकालाश्रितत्वसम्बन्ध का रेखांकन -

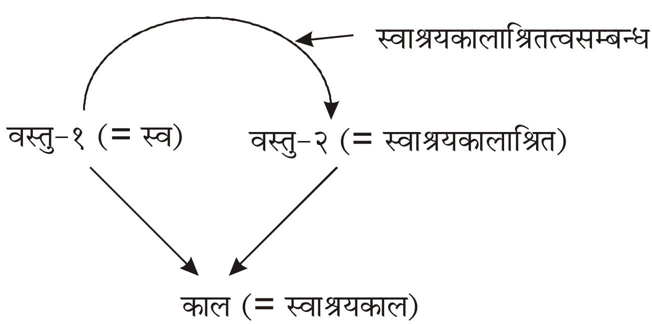

२०. मूलग्रन्थ में स्थित 'अस्मिन् मासे...' इत्यादि से लेकर जो पाठ हैं वह मूलग्रन्थ का ही अंश होने के बावजूद, जब इस ग्रन्थ की टीका सहित प्रति मुद्रित हुई तब संपादक ने किसी अज्ञात कारणवश इस अंश को मूलग्रन्थ में से अलग करके नीचे पादनोंध में रख दिया था। प्रस्तुत सम्पादन में उस अंश को – जैसा कि मूलग्रन्थ के लेखक के द्वारा सम्पादित की गई प्रति में था वैसे ही – मूलग्रन्थ में जोड़ दिया गया है। अतः [सु. ४९] में टीकाकार ने पादटीका गत जिस वाक्य की चर्चा की है, उसका संदर्भ अब मूलग्रन्थ में स्थित 'तेन सम्बन्धेन...' इत्यादि वाक्य से समझना चाहिए।

२१. ग्रन्थस्थित किसी शब्द के सामान्य रूप से ग्रहण किये जाने वाले अर्थ को स्वीकार करने पर अर्थसंगति में आपत्ति आती हो तब शब्द के अर्थ को संकोच या संक्षेप करना यही 'संकोचवृत्तिता' है। प्रस्तुत स्थल में 'सर्व' और 'सर्वत्र' शब्द के 'सभी पदार्थ' और 'सभी जगह' – इन सामान्य अर्थों को छोड़कर 'नित्यद्रव्य से अन्य सभी पदार्थ' और 'नित्यद्रव्य से अन्य सभी पदार्थ में' – इस प्रकार के अर्थ लिये गये हैं।

नव्यन्यायभाषाप्रदीपः

[न.१५] 'अयं न द्वौ, किन्तु द्वित्ववान्' इति प्रतीतेः 'द्वौ' 'द्वित्ववान्' इति पदयोरर्थविशेषावधारणाय नवीनैः कश्चित् पर्याप्तिनामकः सम्बन्धः स्वीक्रियते। पर्याप्तिः पर्यवसानं, साकल्येन सम्बन्धः, अर्थात् यस्य यावन्त आश्रयाः सन्ति, तावत्स्वेवाश्रयेषु मिलितेष्वेव सम्बन्धः। पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वसंख्या मिलितयोरेव द्वयोर्वर्तते न त्वेकैकस्मिन्। एवं त्रित्वसंख्या मिलितेष्वेव त्रिषु वर्तते, न त्वेकैकस्मिन् द्वयोर्वा। अत एव द्वित्वादयः संख्या व्यासज्यवृत्तयः (व्यासज्य सर्वमेवाधारमधिकृत्य वर्तन्ते) इत्युच्यते। एवञ्च द्विशब्दस्य पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाधारताप्रतीतेः एकस्य च पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाधारत्वाभावात् 'अयं न द्वौ' इति प्रतीतिर्भवति। समवाय-सम्बन्धेन पुनः द्वित्वसंख्या द्वयोरेकैकस्मिन्नपि तिष्ठतीति 'समवाय-

सम्बन्धेन द्वित्वाश्रय' इत्यर्थमभिप्रेत्य 'द्वित्ववान्' इति प्रयोगः । ततश्च 'अयं न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' इति वाक्यस्य 'अयं न पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्ववान्, किन्तु समवायसम्बन्धेन द्वित्ववान्' इत्यर्थः । संख्यादीनामिव वक्ष्यमाणाया अवच्छेदकताया अपि पर्याप्तिसम्बन्धोऽङ्गीक्रियते ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.५०] रघुनाथशिरोमणिः स्वीयावच्छेदकत्वनिरुक्तिनामके प्रकरणग्रन्थे पर्याप्तिसम्बन्धं स्वरूपसम्बन्धरूपेण विवृतवान्। तद्यथा 'पर्याप्तिश्चायमेको घटः, इमौ द्वाविति प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेष एव' इति। अर्थात् पर्याप्तिरेकः स्वरूपसम्बन्धविशेष 'अयमेकः घटः' 'इमौ द्वौ' इत्यादिरूपा प्रतीतिरेव तत्र प्रमाणम् । तत्प्रतीत्यनुसारं द्वित्वादिसंख्याया इव घटत्वपटत्वादिधर्माणामपि पर्याप्तिनामकः सम्बन्धोऽस्ति इति प्रतिपादितम् । तदेव बोधयितुं जगदीशः प्रोवाच– 'अयमेको घट इति एकमात्रधर्मावच्छेदेन घटत्वस्य पर्याप्तिं दर्शयितुम्। इमौ द्वाविति उभयवृत्तिधर्मावच्छेदेन द्वित्वस्य पर्याप्तिं दर्शयितुम्' इति । अर्थात् अयमेको घट इत्यस्य निर्देशः एकव्यक्तिमात्रवृत्तितत्तद्व्यक्तित्वावच्छेदेन घटत्वस्य पर्याप्तिसम्बन्धं दर्शयितुं तथोभयवृत्तिधर्मावच्छेदेन द्वित्वस्य पर्याप्तिं दर्शयितुम् 'इमौ द्वावि'ति अंशो निर्दिष्टः । अस्येदं तात्पर्यं यत्– घटत्वादिधर्मः प्रत्येकं घटादावपि पर्याप्तिसम्बन्धेन तिष्ठति, तथा द्वित्वादिः व्यासज्यवृत्तिर्धर्मः द्वयादिवस्तुन्येव वर्तते, प्रत्येकं वस्तुनि न वर्तते। अनेन द्वित्वादिव्यासज्यवृत्ति–धर्मविषये मूलोक्तं वस्तु समर्थितं भवति।

[सु.५१] ननु 'एको न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' इत्यादिप्रतीत्युपपत्तये द्वित्वादिव्यासज्यवृत्तिधर्माणां समवायादिसम्बन्धातिरिक्तपर्याप्तिनामकस्वरूप–सम्बन्धे स्वीकृतेऽपि एकत्वघटत्वादिधर्माणां वृत्तिताविषये समवायसम्बन्ध–मात्रस्य स्वीकारेणैवोपपत्तौ मुधैव तेषां पर्याप्तिस्वीकारः इति चेत्, जगदीशत–र्कालङ्कारोऽवच्छेदकत्वनिरुक्तिटीकायां तदाशङ्काशमनीं वाचं प्रोवाच यत् 'इदन्त्वावच्छिन्नम् एव वह्नित्वमेकत्वञ्च पर्याप्तं, नतु द्वित्वमित्याद्यनुभवादेव तदभ्युपगमात्' इति। अर्थात् इदन्तावच्छिन्ने अयम् इत्यादिनिर्दिष्टे पदार्थे एव एकत्वं वह्नित्वञ्च पर्याप्तिसम्बन्धेन तिष्ठति, द्वित्वं तत्र पर्याप्तिसम्बन्धेन न तिष्ठति

इत्याद्यनुभववशादेव पर्याप्तिसम्बन्धः स्वीकर्त्तव्यः। 'इत्याद्यनुभवात्' इत्यत्रादि-पदेन घटत्वमेकत्वञ्च पर्याप्तम् इत्याकारकानुभवबलादेव प्रकृतमुत्तरं ज्ञेयम् । अत्रेदं चिन्त्यं यत् उक्तानुभवस्य प्रामाण्येऽस्वीकृते एकत्वघटत्वादेः समवायाति-रिक्तपर्याप्तिसम्बन्धस्योपपादनं न सुशकम्।

[सु.५२] द्वित्वादयो धर्माः पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वयोः तदधिकेषु वा वस्तुषु तिष्ठन्ति, न तु तद्वस्तुघटकीभूतप्रत्येकव्यक्तिषु इतीमं विषयं "उभयत्वमुभयत्रैव पर्याप्तं न तु एकत्र" इत्यादिना सिद्धान्तेन मथुरानाथतर्कवागीशः व्याप्तिपञ्चकग्रन्थस्य व्याप्तेः प्रथमलक्षणस्य टीकायामुल्लिखितवान्।

[सु.५३] जगदीशतर्कालङ्कारस्तु तस्य सिद्धान्तस्य न पक्षपाती । तत्त्वचिन्तामणेः दीधितिटीकाया व्याख्यायां तद्विषयकं मतं सोऽनेकत्र प्रकटितवान्। तन्नये यदि उभयत्वादिरूपो धर्म उभयादिसमुदाये एव पर्याप्तिसम्बन्धेन तिष्ठति, किन्तु उभयादिसमुदायस्य घटकीभूतायां प्रत्येकं व्यक्तौ न तिष्ठति, तर्हि यो धर्मो येन सम्बन्धेन प्रत्येकं व्यक्तौ न तिष्ठति, स धर्मस्तेन सम्बन्धेन तत्तद्व्यक्तिघटिते समुदायेऽपि न तिष्ठतीति नयानुसारमुभयादिघटके प्रत्येकमवृत्तिरुभयत्वादिधर्म उभयादिसमुदायेऽपि न स्थातुमर्हति। तेन घटादिवस्तुद्वयं विषयीकृत्यापि 'इमौ न द्वौ' इत्यादिप्रतीतेः आपत्तिर्भवति। अत एव द्वित्वत्रित्वादिव्यासज्यवृत्तिधर्मः पर्याप्तिसम्बन्धेन यथा घटपटादिरूपोभयादिसमुदाये तिष्ठति तथैवोभयादिघटकीभूते प्रत्येकमपि तिष्ठतीति स्वीकार्यम्। तस्य मतस्य विशेषत्वमेतद्यत् द्वित्वादिधर्मः प्रत्येकं व्यक्तौ समुदायवृत्तिधर्मावच्छेदेनैव तिष्ठति, न तु प्रत्येकव्यक्तिमात्रवृत्ति-धर्मावच्छेदेन। अत एव इदन्त्वावच्छिन्नं घटादिमुद्दिश्य "अयं द्वौ" इत्यादिरूपाया प्रतीतेरापत्तिः न भवति।

[सु.५४] अवच्छेदकतारूपो धर्मः पर्याप्तिसम्बन्धेन तिष्ठति। अस्योदाहरणं यथा–घटो नास्ति इत्याकारकाभावस्थले घटत्वम् अभावीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकः धर्मः । तत्र तस्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकता पर्याप्तिसम्बन्धेन तिष्ठति। तस्य पर्याप्तिसम्बन्धस्यानुयोगितावच्छेदकं घटत्वगतमेकत्वम्। नीलघटो नास्ति इत्याकारकाभावस्थले नीलत्वं घटत्वञ्च धर्मः प्रतियोगितावच्छेदकः । अत एव प्रोक्तस्थले सावच्छेदकता तद्धर्मद्वये पर्याप्ता। तादृश्या विभिन्नप्रकारिक-यावच्छेदकतयैव विशेषाभावः सामान्याभावश्च निर्णीतो भवति। संख्याभिन्नस्य अवच्छेदकताप्रभृतेर्धर्मस्य पर्याप्तिस्थले एकत्वद्वित्वादिसंख्या पर्याप्तेरनुयोगिता-

वच्छेदकः, द्वित्वादिसंख्यायाः पर्याप्तिस्थले द्वित्वादिसमनियतोऽव्यासज्यवृत्तिः अन्यतरत्वादिर्धर्म एवानुयोगितावच्छेदकस्तथा उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिरेव पर्याप्तिसम्बन्धेन व्यवहारस्य नियामिकेत्येवं साम्प्रदायिकः सिद्धान्तः। तत्सिद्धान्तानुसारमेव 'अयं द्वौ' इत्यादिरूपो व्यवहारो वारणयोग्यो भवति। प्रोक्तव्यवहारस्थले इदन्त्वमुद्देश्यतावच्छेदकन्तथा पर्याप्तिरिदन्त्वावच्छिन्नानुयोगिताका। तादृशपर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वस्य सत्ता असिद्धा।

[सु.५५] अवच्छेदकतायाः पर्याप्तिविषयः सिद्धान्तलक्षणस्य जागदीश्यां समुपलभ्यते। यथा – 'हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकताया पर्याप्त्यधिकरणभिन्नत्वं साध्यतावच्छेदकस्य वाच्यम्' इत्यादि।

※ अनुवाद ※

[नव्य.१५] 'यह दो नहीं है, किन्तु द्वित्ववाला है' (अयं न द्वौ, किन्तु द्वित्ववान्) इस प्रतीति में (द्वौ) दो और (द्वित्ववान्) द्वित्ववाला इन दो पदों के विशिष्ट अर्थ का अवधारण (बोध) करने के लिए नव्यनैयायिकों के द्वारा पर्याप्ति नाम का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। पर्याप्ति का अर्थ है – पर्यवसान = समाप्ति, सबके साथ सम्बन्ध अर्थात् जिस सम्बन्ध के जितने आश्रय हो उन सभी आश्रयों के मिलने पर ही जो सम्बन्ध हो वह पर्याप्ति सम्बन्ध कहलाता है। पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व संख्या दोनो आश्रयों के मिलने पर ही उनमें रहती है, किन्तु अलग-अलग एक-एक आश्रय में नहीं रहती। इसी प्रकार त्रित्व संख्या भी तीनों आश्रयों के मिलने पर ही उनमें रहती है, किन्तु अलग-अलग एक या दो में नहीं रहती। इसीलिये द्वित्व आदि संख्याएँ व्यासज्यवृत्ति अर्थात् सभी को आधार करके रहनेवाली कही जाती हैं। इस प्रकार द्वि शब्द की पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व की आधारता प्रतीत होने से और एक पदार्थ में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व की आधारता का अभाव होने से (अयं न द्वौ) यह दो नहीं है, एसी प्रतीति होती है। फिर भी समवायसम्बन्ध से द्वित्व संख्या दोनों में से एक-एक में भी रहती है, अतः समवायसम्बन्ध से द्वित्व का आश्रय इस अर्थ के अभिप्राय से (द्वित्ववान्) द्वित्ववाला है, एसा प्रयोग किया गया है। अब 'यह दो नहीं है, किन्तु द्वित्ववाला है' – इस वाक्य का अर्थ – 'यह पर्याप्तिसम्बन्धसे द्वित्ववाला नहीं है किन्तु समवायसम्बन्ध से

द्वित्ववाला है' ऐसा होगा । संख्या आदि की तरह अवच्छेदकता का भी पर्याप्तिसम्बन्ध स्वीकार किया जाता है । अवच्छेदकता का स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

[सु.५०] श्री रघुनाथशिरोमणि ने अपने अवच्छेदकत्वनिरुक्ति नामक प्रकरण में पर्याप्तिसम्बन्ध का स्वरूपसम्बन्ध के रूप में विवरण करते हुए कहा है कि 'पर्याप्तिश्चायमेको घटः इमौ द्वाविति प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेष एव ।' अर्थात् पर्याप्ति एक प्रकार का स्वरूपसम्बन्ध है तथा 'यह एक घट है' 'ये दो है' – इत्यादि प्रतीति ही वहाँ प्रमाण स्वरूप है । उस प्रतीति के अनुसार द्वित्व आदि संख्या की तरह घटत्व, पटत्व आदि धर्मों का भी पर्याप्ति नामक सम्बन्ध होता है ऐसा सिद्ध होता है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए जगदीशतर्कालंकार ने कहा है कि 'अयमेको घट इति एकमात्रधर्मावच्छेदेन घटत्वस्य पर्याप्तिं दर्शयितुम् । इमौ द्वाविति उभयवृत्तिधर्मावच्छेदेन द्वित्वस्य पर्याप्तिं दर्शयितुम् ।' अर्थात् एक व्यक्तिमात्र में वृत्ति तत्तद् व्यक्तित्व के अवच्छेद (= आश्रय) से घटत्व के पर्याप्तिसम्बन्ध को बताने के लिए 'यह एक घट है' ऐसा निर्देश किया गया है तथा उभयपदार्थ में वृत्ति धर्म के अवच्छेद (= आश्रय) से द्वित्व के पर्याप्तिसम्बन्ध को बताने के लिए 'ये दो हैं' इस अंश का निर्देश किया गया है । इस का तात्पर्य यह है कि घटत्व आदि धर्म प्रत्येक घट में भी पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है तथा द्वित्व आदि व्यासज्यवृत्तिधर्म दो वस्तु आदि में ही रहता है किन्तु प्रत्येक वस्तु में नहीं रहता है । इस से द्वित्व आदि व्यासज्यवृत्तिधर्म के विषय में मूलग्रन्थ में जो बात कही गई है उसका समर्थन होता है ।

[सु.५१] यहाँ एक शंका होती है कि – 'एक (पदार्थ) दो नहीं है किन्तु द्वित्ववाला है' – इस प्रकार की प्रतीति को संगत करने के लिए द्वित्व आदि व्यासज्यवृत्तिधर्मों के सम्बन्ध के रूप में समवाय आदि सम्बन्धों से अतिरिक्त पर्याप्ति नाम के स्वरूपसम्बन्ध को स्वीकार करना आवश्यक है । फिर भी एकत्व, घटत्व आदि धर्मों की वृत्तिता के विषय में केवल समवायसम्बन्ध का स्वीकार करने से ही संगति हो जाती है फिर वहाँ पर्याप्ति का अनावश्यक स्वीकार क्यों किया जाता है ? इस शंका का समाधान करते हुए जगदीशतर्कालंकार ने अवच्छेदकत्वनिरुक्ति की टीका में कहा है कि 'इदन्त्वावच्छिन्न एव

वह्नित्वमेकत्वञ्च पर्याप्तं, नतु द्वित्वमित्याद्यनुभवादेव तदभ्युपगमात्' अर्थात् इदन्त्व से अवच्छिन्न = 'अयम्' इत्यादि पद से निर्दिष्ट पदार्थ में ही एकत्व और वह्नित्व पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है तथा द्वित्व नहीं रहता है - इस प्रकार के अनुभव के वश से ही पर्याप्तिसम्बन्ध का स्वीकार करना चाहिए। 'इत्याद्यनुभवात्' यहाँ जो आदि पद हैं उससे - 'यह एक घट है' इस स्थल में घटत्व और एकत्व पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है - इस अनुभव का ग्रहण करना चाहिए तथा उस अनुभव के बल से ही प्रकृत शंका का समाधान प्राप्त होता है। यहाँ यह बात विचारणीय है कि यदि ऊपरोक्त अनुभव की प्रमाणता को स्वीकार नहीं करते हैं तो एकत्व, घटत्व आदि के सम्बन्ध के रूप में समवाय से अतिरिक्त पर्याप्तिसम्बन्ध को संगत करना अत्यंत अशक्य है।

[सु.५२] द्वित्व आदि धर्म पर्याप्तिसम्बन्ध से दो या उससे अधिक वस्तुओं में रहते हैं। किन्तु उन दो वस्तु या उससे अधिक वस्तुसमुदाय के घटक स्वरूप प्रत्येक वस्तु में नहीं रहते हैं। मथुरानाथ तर्कवागीश ने व्याप्तिपञ्चकग्रन्थ की व्याप्ति के प्रथमलक्षण की टीका में 'उभयत्वमुभयत्रैव पर्याप्तं न तु एकत्र' (= उभयत्व धर्म उभयपदार्थ में ही पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है, एक पदार्थ में नहीं।) - इस सिद्धान्त के द्वारा ऊपरोक्त विषय का उल्लेख किया है।[२२]

[सु.५३] जगदीशतर्कालंकार तो 'द्वित्व आदि धर्म प्रत्येक वस्तु में पर्याप्तिसम्बन्ध से नहीं रहते हैं' इस मत के पक्षपाती नहीं हैं। तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थ की दीधितिटीका की व्याख्या करते वक्त उन्होंने अनेक जगह अपने मत को प्रकट किया है। उनका कहना है कि यदि उभयत्व आदि धर्म उभयादिसमुदाय में ही पर्याप्तिसम्बन्ध से रहते हैं किन्तु उभयादिसमुदाय के घटक स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में नहीं रहते हैं तो 'जो धर्म जिस सम्बन्ध से प्रत्येक व्यक्ति में नहीं रहता है, वह धर्म उस सम्बन्ध से तत्तत् व्यक्ति से घटित समुदाय में भी नहीं रहता है' - इस नियम के अनुसार उभयादि समुदाय के घटक प्रत्येक पदार्थ में नहीं रहनेवाला उभयत्व आदि धर्म उभयादिसमुदाय में भी नहीं रह सकता। उसके कारण ज्ञान का विषय जब घटादि दो वस्तु बनेगी तब भी 'इमौ न द्वौ' (= ये दो नहीं है) ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी। इसीलिए द्वित्व, त्रित्व आदि व्यासज्यवृत्तिधर्म पर्याप्तिसम्बन्ध से जिस प्रकार घट-पट आदि उभयादिसमुदाय में रहते हैं उसी प्रकार उभयादि के घटक स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में भी रहते हैं

ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इस मत की विशेषता यह है कि द्वित्व आदि धर्म प्रत्येक व्यक्ति में समुदायवृत्तिधर्म के अवच्छेद से रहते हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में ही रहनेवाले किसी भी धर्म के अवच्छेद से नहीं रहते हैं। इसीलिए इदन्त्व से अवच्छिन्न घटादि पदार्थ के उद्देश्य से 'अयं द्वौ' (यह दो हैं) इत्यादि प्रतीति की आपत्ति नहीं होती है।[२३]

[सु.५४] अवच्छेदकता स्वरूप धर्म भी पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है कि – 'घट नहीं है' ऐसे आकारवाले अभाव के स्थल में घटत्व धर्म अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। उस घटत्व धर्म में उस अभावसम्बन्धी प्रतियोगिता की अवच्छेदकता पर्याप्तिसम्बन्ध से रहती है। घटत्व में रहा हुआ एकत्व उस पर्याप्तिसम्बन्ध की अनुयोगिता का अवच्छेदक बनता है। 'नीलघट नहीं है' ऐसे आकारवाले अभाव के स्थल में नीलत्व धर्म तथा घटत्व धर्म अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। इसीलिए इस स्थल में अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता उन दो धर्म में पर्याप्तिसम्बन्ध से रहती हैं। उस प्रकार की विभिन्न अवच्छेदकताओं के द्वारा ही विशेषाभाव तथा सामान्याभाव का निर्णय होता है।[२४] संख्या से भिन्न अवच्छेदकता आदि धर्म के पर्याप्तिसम्बन्ध के स्थल में एकत्व, द्वित्व आदि संख्या पर्याप्तिसम्बन्ध की अनुयोगिता की अवच्छेदक बनती है और द्वित्व आदि संख्या के पर्याप्तिसम्बन्ध के स्थल में द्वित्व आदि का समनियत तथा अव्यासज्यवृत्ति ऐसा अन्यतरत्व आदि धर्म ही अनुयोगिता का अवच्छेदक बनता है तथा उद्देश्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न अनुयोगिता की निरूपक पर्याप्ति ही पर्याप्तिसम्बन्ध का व्यवहार करने में नियामक हैं – इस प्रकार न्यायसम्प्रदाय का सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त के अनुसार ही 'अयं द्वौ' इत्यादि वचन व्यवहार वारण करने योग्य बनता है। क्योंकि इस वचन व्यवहार में इदन्त्व धर्म उद्देश्यता का अवच्छेदक हैं तथा पर्याप्ति तो इदन्त्व से अवच्छिन्न अनुयोगिता की निरूपक हैं। उस प्रकार के पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्व का रहना सिद्ध नहीं होता है।[२५]

[सु.५५] अवच्छेदकता की पर्याप्ति का विषय सिद्धान्तलक्षण की जागदीशीटीका में उपलब्ध होता है। वह पाठ इस प्रकार है – 'हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकताया पर्याप्त्यधिकरणभिन्नत्वं साध्यतावच्छेदकस्य वाच्यम्।'

※ टिप्पणी ※

२२. जहाँ द्वित्व रहता है, वहाँ 'द्वौ' की बुद्धि होती है – ऐसा सामान्य नियम है। पर्याप्तिसम्बन्ध से उभयादि समुदाय में रहनेवाला द्वित्वादि धर्म यदि उस समुदाय के घटक स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में भी रहे तो उस प्रत्येक व्यक्ति में 'अयं द्वौ' एसी प्रतीति होने की आपत्ति आयेगी, जो इष्ट नहीं है अतः मथुरानाथ आदि नैयायिक ऐसा मानते हैं कि द्वित्व आदि धर्म पर्याप्तिसम्बन्ध से उभयादि समुदाय में ही रहते हैं, किन्तु उसके घटक स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में नहीं रहते हैं।

२३. जगदीश तर्कालंकार के मत में उभयादि समुदाय के घटकस्वरूप प्रत्येक में भी द्वित्व आदि धर्म पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है – ऐसा मानने पर भी 'अयं द्वौ' इत्यादि प्रतीति की आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि उनके मत में द्वित्व आदि धर्म प्रत्येक व्यक्ति में रहता तो है, किन्तु यत्किंचित् धर्म के अवच्छेद से नहीं रहता है। समुदायवृत्ति अर्थात् समुदाय के सभी घटकों में रहनेवाले धर्म के अवच्छेद से ही रहता है। 'इदन्त्व' धर्म समुदाय के एक व्यक्ति में ही रहता है, सभी घटकों में नहीं। अतः 'अयं द्वौ' इत्यादि प्रतीति की आपत्ति नहीं होगी।

२४. किसी भी स्थल पर जब घटादि पदार्थ का अभाव होता है तो वह सामान्याभाव है या विशेषाभाव है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए उस अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक का निर्णय करना चाहिए। प्रतियोगिता का अवच्छेदक वही होता है जिसमें अवच्छेदकता रहती हो। अवच्छेदकता पर्याप्तिसम्बन्ध से रहती है। अवच्छेदकता की पर्याप्ति निश्चित रूप से किस जगह पर है इसका निर्णय करने के लिए पर्याप्तिसम्बन्ध के अनुयोगी की संख्या को पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक माना जाता है। किसी स्थल पर यदि नीलघटाभाव होगा तो उस अभाव का प्रतियोगी नीलघट होगा। प्रतियोगिता के अवच्छेदक नीलत्व और घटत्व – दोनों बनेंगे। प्रतियोगिता की अवच्छेदकता नीलत्व और घटत्व में पर्याप्तिसम्बन्ध से रहेगी। इस स्थल में अवच्छेदकता धर्म पर्याप्तिसम्बन्ध का प्रतियोगी हुआ और नीलत्व और घटत्व ये दोनो धर्म पर्याप्तिसम्बन्ध के अनुयोगी हुए। नीलत्व और घटत्व में रहा हुआ द्वित्व धर्म, नीलत्व तथा घटत्व में स्थित अनुयोगिता का अवच्छेदक हुआ। इससे निश्चित हो गया कि अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता नीलत्व और घटत्व दोनों धर्म में रहती है। न इन दोनों में से केवल किसी एक धर्म में और न इन दो धर्म

से अन्य किसी तृतीय धर्म में। अतः अभाव की प्रतियोगिता नीलत्व और घटत्व से ही अवच्छिन्न है। फलस्वरूप उस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव भी नीलघटाभाव ही है।

२५. अवच्छेदकता की पर्याप्ति में तो अनुयोगी की संख्या पर्याप्ति की अनुयोगिता की अवच्छेदक बनती है। किन्तु अवच्छेदकता से भिन्न द्वित्व आदि धर्म जब पर्याप्तिसम्बन्ध से रहते हैं तब पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक कौन बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि – उक्त स्थल में द्वित्व आदि धर्म का समनियत ऐसा 'अन्यतरत्व' आदि धर्म ही पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक बनेगा। जहाँ द्वित्व रहता हो उस उद्देश्य = पक्ष का अवच्छेदक उद्देश्यतावच्छेदक कहा जाता है। वह उद्देश्यतावच्छेदक ही अनुयोगिता का अवच्छेदक बनता है। फलतः अनुयोगितावच्छेदक धर्म की दो शर्तें हुई – वह धर्म द्वित्व धर्म का समनियत हो तथा वही उद्देश्यतावच्छेदक हो। जब दो घट में 'इमौ द्वौ' की बुद्धि होगी तब द्वित्व की पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक 'अन्यतरत्व' आदि धर्म बनेगा तथा वही धर्म उद्देश्यतावच्छेद भी है। अतः यह प्रतीति अबाधित है। किन्तु जब एक घट में द्वित्व की बुद्धि करते हैं तब इदन्त्व धर्म उद्देश्यतावश्यक तो बनता है, किन्तु वह धर्म द्वित्व का समनियत नहीं है। अतः इदन्त्व धर्म द्वित्व की पर्याप्ति का अनुयोगितावच्छेदक नहीं बनता। फलस्वरूप 'इदन्त्व' के अवच्छेद से द्वित्व का ज्ञान नहीं होता और 'अयं द्वौ' – इस प्रकार का व्यवहार असिद्ध हो जाता है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१६] विषयता विषयिता चेति अपरौ द्वौ वृत्त्यनियामकौ सम्बन्धौ स्तः। तत्र विषया घटपटादयो ज्ञानेच्छादौ विषयिता-सम्बन्धेन वर्तन्ते। विषयतासम्बन्धेन च ज्ञानेच्छादयो घटपटादौ विषये तिष्ठन्तीति।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.५६] "ज्ञानेच्छाकृतिद्वेषाः सविषयकाः"। अर्थात् ज्ञानमिच्छा कृतिर्द्वेष इत्येतेषां सर्वेषां एकैकः विषयस्तिष्ठति। विषये सति तत्र विषयतारूपः धर्मोऽपि तिष्ठेत्। सा च विषयता घटपटादिविषयनिष्ठा ज्ञानेच्छाकृतिद्वेषनिरूपिता च।

तस्मात् तस्य विषयतारूपसम्बन्धस्य द्वौ सम्बन्धिनौ । एकः घटादिविषयोऽपरश्च ज्ञानेच्छादिः । सम्बन्धसत्ता सम्बन्धिसत्ताया नियामिका । तस्मात्तादृशी विषयता यदा सम्बन्धो भवति, तस्या विषयताया आश्रये घटादिविषये ज्ञानेच्छादिरपरो सम्बन्धी अपि तेनैव सम्बन्धेन तिष्ठेदर्थात् सम्बद्धो भवति ।

[सु.५७] एवं यस्य विषयो वर्तते स एव विषयी । अत एव ज्ञानेच्छाप्रभृतीनां सविषयकत्वात् ज्ञानादिरूपं वस्तु एव विषयी । विषयिता तद्गतः धर्मविशेषः । सा च विषयिता यदा सम्बन्धो भवति तदा तस्या ज्ञानेच्छादौ सत्त्वात् तस्याश्च विषयसापेक्षतावशतः घटपटादिविषयनिरूपितत्वात् घटपटादिविषयास्तेन सम्बन्धेन ज्ञानेच्छादौ तिष्ठन्ति। ताभ्यां विषयताविषयितासम्बन्धाभ्यां सम्बन्धिनोराधायाधेयभावस्य प्रतीतिर्नैव भवति। तस्मात्तौ वृत्त्यनियामकौ सम्बन्धौ।

☼ अनुवाद ☼

[नव्य.१६] विषयता और विषयिता ये दोनों भी वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध हैं। घट, पट आदि विषय विषयितासम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा आदि मे रहते हैं और विषयतासम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा आदि विषयी घट, पट आदि विषयों में रहते हैं।

[सु.५६] ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न और द्वेष सविषयक होते हैं अर्थात् ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न और द्वेष इन सभी का एक एक विषय होता है।[२६] विषय होने पर उस विषय में 'विषयता' रूप धर्म रहता है । वह विषयता घट-पट आदि विषयों में रहती है तथा ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न और द्वेष से निरूपित होती है। इस कारण से विषयता रूप सम्बन्ध के दो सम्बन्धी होते हैं, पहला घट आदि विषय और दूसरा ज्ञान, इच्छा आदि विषयी । विषयता जब सम्बन्ध बनता है तब 'सम्बन्ध की सत्ता सम्बन्धी की सत्ता की नियामक होती है'-इस नियम के कारण विषयता के आश्रय घट आदि विषय में विषयता का दूसरा सम्बन्धी ज्ञान, इच्छा आदि विषयी विषयतासम्बन्ध से रहता है अर्थात् ज्ञान, इच्छा आदि विषयी विषयतासम्बन्ध से विषयता के आश्रय घट पट आदि विषय में सम्बद्ध होता है।[२७]

[सु.५७] इसी प्रकार जिसका विषय होता है, वह विषयी होता है। अतः ज्ञान, इच्छा आदि वस्तु सविषयक होने के कारण ज्ञान आदि वस्तु ही विषयी

है। विषयी में विषयिता नामक धर्म रहता है। विषयिता धर्म ज्ञान, इच्छा आदि में रहता है तथा विषयिता धर्म विषय के सापेक्ष होने के कारण घट, पट आदि विषय के द्वारा निरूपित होता है। अब यह विषयिता धर्म जब सम्बन्ध बनता है तब घट, पट आदि विषय विषयतासम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा आदि विषयी में रहते हैं।[२८] विषयता सम्बन्ध और विषयिता सम्बन्ध से उनके दोनों सम्बन्धियों में परस्पर आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होती है। उस कारण से विषयतासम्बन्ध और विषयितासम्बन्ध वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध है।

❊ टिप्पणी ❊

२६. (१) मुझे ज्ञान हुआ। किस विषय का ? घट का। (२) मैंने इच्छा की। किस विषय की ? पट की। (३) मैंने प्रयत्न किया। किस विषय का ? अध्ययन का। (४) मैंने द्वेष किया। किस विषय का ? शत्रु का। इन चार प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि ज्ञान, इच्छा, कृति (= प्रयत्न) और द्वेष का कोई न कोई विषय होता ही है। इन चारों की निर्विषय स्थिति असम्भव है।

२७. विषयतासम्बन्ध का रेखांकन -

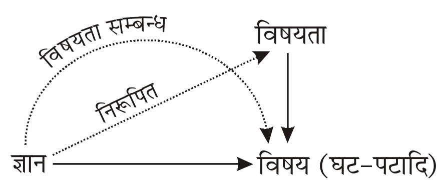

२८. विषयितासम्बन्ध का रेखांकन :

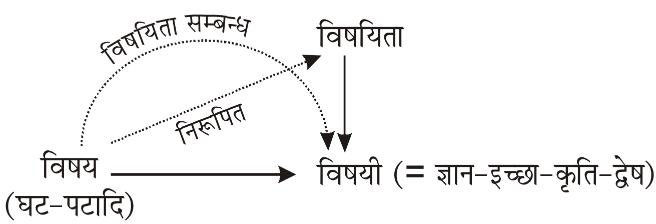

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१७] सम्बन्धो यद्यपि उभयनिष्ठः, यथा-कुण्डबदरयोः सम्बन्धः कुण्डे बदरे च अस्ति, तथापि केनचित् सम्बन्धेन

कश्चिदेव कुत्रचिदेव तिष्ठति । यथा–संयोगेन सम्बन्धेन कुण्ड एव बदरे तिष्ठति, न तु बदरे कुण्डम् । एवं भूतल एव घटो वर्तते, न तु घटे भूतलमिति । अत्र कारणमेतत्; सम्बन्धस्य एकं प्रतियोगि, अपरञ्चानुयोगि भवति । यस्य सम्बन्धस्य यत् प्रतियोगि भवति, तेन सम्बन्धेन तदेव तिष्ठति । यच्च यस्य सम्बन्धस्य अनुयोगि भवति, तेन सम्बन्धेन तत्र प्रतियोगि तिष्ठति । यथा–कुण्डबदरयोः संयोगे बदरं प्रतियोगि, कुण्डञ्चानुयोगीति कुण्डे बदरं वर्तते, धर्मधर्मिणोः सम्बन्धस्य धर्मः प्रतियोगी, धर्मी चानुयोगी भवति । अत एव धर्म एव धर्मिणि वर्तते, न तु धर्मी धर्मे ।

☼ सुप्रभा ☼

[सु.५८] सम्बन्धस्य प्रतियोगित्वानुयोगित्वसत्त्वं 'पर्वते वह्नेः संयोग–सम्बन्धः, न तु वह्नौ पर्वतस्य' इत्यादिप्रतीतिसिद्धम् । अत्र वह्निपदोत्तरं वर्तमानाया षष्ठ्या अर्थः प्रतियोगित्वन्तथा पर्वतपदोत्तरं विद्यमानायाः सप्तम्या अर्थोऽनुयोगित्वम्। प्रतियोगित्वमनुयोगित्वञ्च यथाक्रमं सांसर्गिकं प्रतियोगित्वम्, सांसर्गिकमनुयोगित्वमित्युच्यते ।

[सु.५९] सर्वेषां सम्बन्धानां एकः प्रतियोगी अपरश्च अनुयोगी भवति। वृत्तिनियामकसम्बन्धस्थले आधेयं वस्तु एव सम्बन्धस्य प्रतियोगी तथाधारः सम्बन्धस्यानुयोगी भवति । सम्बन्धमात्रविषये एव तयोः प्रतियोगित्वानु–योगित्वयोः स्थितिः 'सम्बन्धमात्रस्यैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकसम्बन्धत्वनियमेन' इत्यादिना जगदीशोक्तग्रन्थेन समर्थिता भवति। धर्मशब्दस्य सामान्यार्थः आधेयः । स च धर्मः यत्र वर्तते स एव धर्मी । तस्य च धर्मस्य प्रतियोगित्वात् धर्मिणश्चानुयोगित्वात् कुण्डबदरयोः संयोगसम्बन्धस्थले 'कुण्डे बदरम्' इत्येवंरूपेण कुण्डपदोत्तरमनुयोगिताबोधिका सप्तमी प्रयुक्ता भवति, बदरस्य च तत्सम्बन्धोचितानुयोगित्वाभावात् बदरशब्दोत्तरं तद्बोधकसप्तम्याः प्रयोगो न भवति ।

☼ अनुवाद ☼

[नव्य.१७] यद्यपि सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धी में रहता है । जैसे कुण्ड और बदर का सम्बन्ध कुण्ड और बदर दोनों में रहता है । फिर भी

किसी सम्बन्ध से कोई निश्चित पदार्थ ही किसी निश्चित आधार में ही रहता है। जैसे – संयोगसम्बन्ध से कुण्ड में ही बदर रहता है, बदर में कुण्ड नहीं रहता। इसी प्रकार भूतल पर ही घट रहता है, घट में भूतल नहीं रहता। यहाँ कारण यह है कि सम्बन्ध का एक सम्बन्धी प्रतियोगी होता है और दूसरा सम्बन्धी अनुयोगी होता है। जिस सम्बन्ध का जो प्रतियोगी होता है, उस सम्बन्ध से वह ही रहता है। जो जिस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है, उस सम्बन्ध से वहाँ प्रतियोगी रहता है। जैसे – कुण्ड और बदर के संयोग में बदर प्रतियोगी है और कुण्ड अनुयोगी है, अतः कुण्ड में संयोगसम्बन्ध से बदर रहता है। धर्म और धर्मी के सम्बन्ध में धर्म प्रतियोगी है और धर्मी अनुयोगी है, इस कारण से धर्म ही धर्मी में रहता है किन्तु धर्मी धर्म में नही रहता है।[२९]

[सु.५८] 'पर्वत में वह्नि का संयोगसम्बन्ध होता है, किन्तु वह्नि में पर्वत का संयोगसम्बन्ध नहीं होता है'–इस प्रकार की प्रतीति से सम्बन्ध के प्रतियोगी तथा अनुयोगी का होना सिद्ध होता है। यहाँ 'वह्नि' पद के बाद जो षष्ठी विभक्ति है उसका अर्थ 'प्रतियोगित्व' है तथा 'पर्वत' पद के बाद जो सप्तमी विभक्ति है उसका अर्थ 'अनुयोगित्व' है। इन प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व को क्रमशः सांसर्गिक प्रतियोगित्व और सांसर्गिक अनुयोगित्व कहा जाता है।

[सु.५९] सभी सम्बन्धों का एक प्रतियोगी तथा एक अनुयोगी होता है। जहाँ सम्बन्ध वृत्तिनियामक होता है वहाँ आधेय वस्तु ही सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है तथा आधार ही सम्बन्ध का अनुयोगी होता है। 'सभी सम्बन्ध एक प्रतियोगी से तथा एक अनुयोगी से निरूपित होता है ऐसा नियम है। इसके द्वारा...' इत्यादि जगदीश तर्कालङ्कार द्वारा कथित ग्रन्थ से सम्बन्धमात्र के विषय में प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व इन दोनों की स्थिति का समर्थन होता है अर्थात् जगदीश तर्कालङ्कार के ग्रन्थ से इस बात का समर्थन होता है कि प्रत्येक सम्बन्ध के एक प्रतियोगी तथा एक अनुयोगी स्वरूप दो सम्बन्धी होते ही हैं। धर्म शब्द का सामान्य अर्थ 'आधेय' होता है। धर्म जहाँ रहता है, वह धर्मी कहलाता है। धर्म हमेशा प्रतियोगी होता है तथा धर्मी हमेशा अनुयोगी होता है। इस कारण से कुण्ड और बदर के संयोगसम्बन्ध के स्थल में 'कुण्ड में बदर है'–इस प्रकार 'कुण्ड' पद के बाद अनुयोगिता को बतानेवाली सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त होती है।

बदर में तो प्रकृत सम्बन्ध के उचित अनुयोगिता नहीं होने के कारण बदर शब्द के बाद अनुयोगिता को बतानेवाली सप्तमी विभक्ति का प्रयोग नहीं होता है।

❊ टिप्पणी ❊

२९. सम्बन्ध के प्रतियोगि तथा अनुयोगि का रेखांकन :

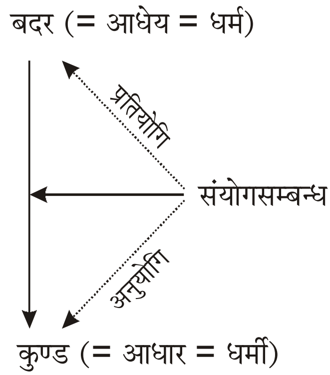

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१८] यच्च यत्र वर्तते तत् तस्य आधेयम् आश्रितं तद्वृत्ति इति चोच्यते। यत्र तु यद् वर्तते तत् तस्य अधिकरणम् आधार आश्रय इति चोच्यते। यथा कुण्डे बदरं वर्तते, गृहे पटो वर्तत इति बदरं पटश्च आधेयः, कुण्डं गृहञ्च आधार इति। यच्च यस्य आधेयं, तस्मिन् तन्निरूपिता वृत्तिता तिष्ठति। एवं यच्च यस्य अधिकरणं, तस्मिन् तन्निरूपिता अधिकरणता वर्तते।[D] यथा–

D अधिकरणता–वृत्तिताप्रभृतयो धर्माः सापेक्षाः; किमपि अधिकरणं विना कुत्र वृत्तिता भवेत्, आधेयञ्च विना कस्य अधिकरणता भवेत्? ततश्च वृत्तिता अधिकरणमपेक्षते, अधिकरणता चाधेयमिति। यच्च यदपेक्षते तत् तन्निरूपितं भवति। घटस्य वृत्तिता कुत्र? भूतले अन्यत्र वा? इति सन्देहः 'भूतले घटस्य वृत्तिता' इत्युत्तरेण निवार्यते। 'भूतले' इत्यनेन हि वृत्तिता कीदृशीति निरूप्यते (विशेषतोऽवधार्यते)। अतः 'भूतलमधिकरणं घटस्य वृत्तिता–नियामकमि'ति। एतादृश्यैव युक्त्या अधिकरणता आधेयनिरूपिता प्रत्येतव्या। अनयैव च युक्तिभङ्ग्या कार्यताकारणतयोः उद्देश्यताविधेयतयोः परस्परसापेक्षयोः धर्मयोः अन्येषाञ्च ईदृशानां निरूप्यनिरूपकभावोऽवसेयः।

पूर्वोक्तयोरुदाहरणयोः कुण्डनिरूपिता वृत्तिता बदरे, गृहनिरूपिता आधेयता च पटे वर्तते। एकस्य वृत्तितायामपरस्य अधिकरणता अवश्यम्भाविनी।

एवञ्च एकस्य अधिकरणतायां अपरस्य वृत्तिता नियता। अत एव वृत्तिताधिकरणतयोः परस्परनियतसापेक्षतया वृत्तिताधिकरणतयोश्च परस्परं निरूप्यनिरूपकभावोऽस्ति। वृत्तितानिरूपिता अधिकरणता, अधिकरणतानिरूपिता च वृत्तितेति। ततश्च 'कुण्डे बदरम्' इति वाक्यस्य 'कुण्डनिरूपितवृत्तितावद् बदरम्' किंवा 'कुण्डनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावद् बदरम्' इत्यर्थः प्रतीयते। एवं 'बदरवत् कुण्डम्' इत्यस्य प्रयोगस्य 'कुण्डं बदरनिरूपिताधिकरणतावत्' इति, किंवा 'कुण्डं बदरनिष्ठवृत्तितानिरूपिताधिकरणतावत्' इत्यर्थः पर्यवसीयते।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.६०] येन सम्बन्धेन यो धर्मः यत्र वर्तते स धर्मः तेनैव सम्बन्धेन तस्याधेयो भवति तथा च स धर्मः येन सम्बन्धेन यत्र वर्तते तेनैव सम्बन्धेन स तस्य धर्मस्याधिकरणं भवति इति ''यच्च यत्र वर्तते'' इत्यादिमूलांशस्य तात्पर्यमित्यवधेयम्। अत एव भूतले संयोगेन घटस्य विद्यमानत्वात् घटः संयोगसम्बन्धेन भूतलस्याधेयस्तथा भूतलं संयोगसम्बन्धेन अधिकरणं, न तु समवायसम्बन्धेन। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्।

[सु.६१] 'व्रतु वर्तने' इति धातुपाठोक्तात् वृत् इति धातोः भाववाच्ये क्तप्रत्ययेन वृत्तपदं निष्पद्यते। ततश्च वृत्तं यत्रास्ति इत्यर्थे मत्वर्थीयेन इन्प्रत्ययेन निष्पन्नात् वृत्तिन् इत्यस्मात् भावार्थे तल्प्रत्ययेन वृत्तिताशब्दः निष्पद्यते। तस्यार्थः वर्तमानता स्थितिर्वा।

[सु.६२] सेयं वृत्तिताधिकरणता च स्वरूपसम्बन्धविशेषः। केचन तं धर्ममतिरिक्तपदार्थत्वेन मन्यन्ते। तच्च सिद्धान्तलक्षणस्य दीधितिटीकाया 'विषयता तत्त्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्वसम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्था इत्येकदेशिनः' इत्यंशेन सूचितम्।

[सु.६३] आधेयगता वृत्तिता यथाधिकरणनिरूपिता भवति तथैवाधि-करणतानिरूपिता भवति । एवम् अधिकरणगताधिकरणता यथाधेयनिरूपिता भवति तथैवाधेयगतवृत्तितानिरूपितापि भवति। वृत्तिताधिकरणताप्रभृतयो धर्मा यथा यथाक्रमम् अधिकरणरूपधर्मिणा आधेयरूपधर्मिणा इव अधिकरण-तारूपधर्मेण वृत्तितारूपधर्मेण च निरूपिता भवति इति व्यवहारो भवति, तथैव आधेयपदार्थरूपधर्मी अधिकरणेनाधिकरणतया वा अधिकरणरूपधर्मी च आधेयेनाधेयतया वा निरूपितो भवतीत्येवं व्यवहारो न भवति।

[सु.६४] यः धर्मः यन्निरूपितो भवति स तस्य निरूपकत्वेन व्यवहृतो भवति । अत एव वृत्तिता यथाधिकरणनिरूपिता भवति, तथैवाधिकरणता-निरूपिता भवतीति अधिकरणाधिकरणतारूपपदार्थयोर्वृत्तितानिरूपकत्वेन व्यवहारो भवति। एवमाधेयेन अर्थाद्वृत्तिपदार्थेन तद्गतवृत्तितया च अधिकरणताया निरूपितत्वात् पदार्थद्वयस्याधिकरणतानिरूपकत्वेन व्यवहारो भवति ।

[सु.६५] पादटीकायां कार्यताकारणतयोः यः पारस्परिकः निरूप्यनिरू-पकभावः प्रकटितस्तत्रापि कार्यता यथा कारणतानिरूपिता भवति तथैव कारणनिरूपिता भवति । कारणता च यथा कार्यतानिरूपिता भवति, तथैव कार्यनिरूपिता भवति। अतः कार्यं कारणताया निरूपकम्, कारणञ्च कार्यताया निरूपकम् । कार्यकारणयोः पारस्परिकनिरूप्यनिरूपकभावस्य व्यवहारो न भवति।

[सु.६६] कुत्रचित् वृत्तितार्थे आधेयताशब्दस्येव निरूपकताशब्दस्यापि व्यवहारो भवति ।

[सु.६७] कार्यताकारणतयोः, उद्देश्यताविधेयतयोरिव बहुधर्मयुगलस्य पारस्परिकनिरूप्यनिरूपकभावः भवति। यथा प्रतियोगितावच्छेदकते, संसर्गता-वच्छेदकते, कार्यतावच्छेदकते, कारणतावच्छेदकते प्रतिबध्यताप्रतिबन्धकते, प्रतिबध्यतावच्छेदकते, प्रतिबन्धकतावच्छेदकते इत्यादीनां धर्मयुग्मानां परस्परं निरूप्यनिरूपकभावो भवति।

[सु.६८] अधिकरणनिरूपिता वृत्तिता नियतमेव अधिकरणतानिरूपिता भवति । अतोऽधिकरणतानिरूपितवृत्तिताया उदाहरणवर्णनाप्रसङ्गे मूले 'कुण्डनिरूपितवृत्तिता' इत्युक्तम् । एवं वृत्तिपदार्थनिरूपिताधिकरणताया नियतमेव वृत्तितानिरूपितत्वात् वृत्तितानिरूपिताधिकरणताया उदाहरणवर्णनाप्रसङ्गे मूले

'बदरनिरूपिताधिकरणता' इत्युक्तम् । अथवा उक्तं कल्पद्वयं स्पष्टरूपेण वृत्तिताधिकरणतयोः पारस्परिकनिरूप्यनिरूपकभावप्रतिपादनाय गृहीतम् ।

※ अनुवाद ※

[नव्य.१८] जो पदार्थ जहाँ रहता है, वह पदार्थ उस का आधेय, आश्रित अथवा तद्वृत्ति कहा जाता है। जहाँ जो पदार्थ रहता है, वह उस पदार्थ का अधिकरण, आधार या आश्रय कहा जाता है। जैसे-कुण्ड में बदर रहता है, घर में पट रहता है। यहाँ बदर और पट आधेय हैं तथा कुण्ड और घर आधार हैं। जो पदार्थ जिस अधिकरण का आधेय है, उस पदार्थ में उस अधिकरण से निरूपित वृत्तिता रहती है। इसी प्रकार जो जिस आधेय का अधिकरण है, उसमें उस आधेय से निरूपित अधिकरणता रहती है। जैसे पूर्व में कहे गये दोनों उदाहरणों में कुण्ड से निरूपित वृत्तिता बदर में है और घर से निरूपित आधेयता पट में है। एक की वृत्तिता होने पर दूसरे की अधिकरणता अवश्य होती है।

इसी प्रकार एक की अधिकरणता होने पर दूसरे की वृत्तिता निश्चित होती है। वृत्तिता और अधिकरणता की परस्पर निश्चित सापेक्षता होने के कारण वृत्तिता और अधिकरणता का परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव है।[३०] वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता और अधिकरणता से निरूपित वृत्तिता होती है। अब (कुण्डे बदरम्) कुण्ड में बदर है, इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा - 'कुण्ड से निरूपित वृत्तिता वाला बदर है।' अथवा 'कुण्ड में स्थित अधिकरणता से निरूपित आधेयता वाला बदर है।' इसी प्रकार (बदरवत् कुण्डम्) बदरवाला कुण्ड है, इस वाक्यप्रयोग का अर्थ ऐसा होगा - 'बदर से निरूपित अधिकरणता वाला कुण्ड है।' अथवा 'बदर में स्थित वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता वाला कुण्ड है।'

[सु.६०] जो धर्म जिस सम्बन्ध से जहाँ = जिस आधार में रहता है, वह धर्म उस सम्बन्ध से ही उस आधार का आधेय होता है तथा जो धर्म जिस सम्बन्ध से जहाँ = जिस आधार में रहता है उसी सम्बन्ध से वह आधार उस आधेय धर्म का अधिकरण होता है। अर्थात् आधेय और अधिकरण के बीच जो सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध से ही ये दोनों एक दूसरे के आधेय अथवा अधिकरण बनते हैं, अन्य किसी सम्बन्ध से नहीं - इस प्रकार 'यच्च यत्र वर्तते' इत्यादि मूलग्रन्थ

का तात्पर्य है ऐसा जानना चाहिए। इस कारण से ही भूतल में संयोगसम्बन्ध से घट विद्यमान होने से घट संयोगसम्बन्ध से भूतल का आधेय है तथा भूतल संयोगसम्बन्ध से घट का अधिकरण है किन्तु समवायसम्बन्ध से घट भूतल का आधेय नहीं है तथा भूतल घट का अधिकरण नहीं है। इस प्रकार सभी स्थल पर जानना चाहिए।

[सु.६१] धातु पाठ में 'व्रतु वर्तने' इस प्रकार कहे गये वृत् धातु से भाववाच्य में 'क्त' प्रत्यय होकर 'वृत्त' यह पद निष्पन्न होता है। उसके बाद 'वृत्त अर्थात् रहना जहाँ है'–इस अर्थ में मतुप् अर्थ वाला 'इन्' प्रत्यय लगाने से 'वृत्तिन्' शब्द निष्पन्न होता है। 'वृत्तिन्' शब्द को भाव अर्थ में तल् प्रत्यय लगाने पर 'वृत्तिता' शब्द निष्पन्न होता है। वृत्तिता शब्द का अर्थ है 'वर्तमानता' अथवा 'स्थिति' अर्थात् रहना।

[सु.६२] यह वृत्तिता और अधिकरणता स्वरूपसम्बन्ध विशेष है। किन्तु कुछ विद्वान उस वृत्तिता धर्म और अधिकरणता धर्म को अलग पदार्थ के रूप में मानते हैं। यह मत सिद्धान्तलक्षण की दीधिति टीका के निम्न अंश से सूचित होता है–'विषयता और तत्त्व आदि की तरह प्रतियोगित्व, अधिकरणत्व, सम्बन्धत्व आदि धर्म भी अलग पदार्थ हैं – ऐसा एक सम्प्रदाय विशेष का मत है।'

[सु.६३] आधेय में रहनेवाली वृत्तिता जैसे अधिकरण से निरूपित होती है वैसे ही अधिकरणता से भी निरूपित होती है। इस प्रकार अधिकरण में रहनेवाली अधिकरणता जैसे आधेय से निरूपित होती है वैसे ही आधेय में रहनेवाली वृत्तिता से भी निरूपित होती है। जैसे वृत्तिता धर्म और अधिकरणता धर्म अनुक्रम से अधिकरण स्वरूप धर्मी और आधेय रूप धर्मी की तरह अधिकरणता स्वरूप धर्म और वृत्तिता स्वरूप धर्म से भी निरूपित होता है – ऐसा व्यवहार होता है, उसी तरह आधेयपदार्थ स्वरूप धर्म अधिकरण से अथवा अधिकरणता धर्म से तथा अधिकरण स्वरूप धर्मी आधेय से अथवा आधेयताधर्म से निरूपित होता है – इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है।[३१]

[सु.६४] जो धर्म जिससे निरूपित होता है वह उस धर्म का निरूपक होता है–ऐसा व्यवहार होता है।[३२] वृत्तिता जैसे अधिकरण से निरूपित होती है वैसे ही अधिकरणता धर्म से भी निरूपित होती है, इस कारण से अधिकरण और

अधिकरणता इन दोनों पदार्थों का वृत्तिता के निरूपक के रूप में व्यवहार होता है। इसी तरह आधेय अर्थात् वृत्तिपदार्थ से और उसमें रहनेवाली वृत्तिता से अधिकरणता के निरूपित होने के कारण आधेय तथा वृत्तिता इन दोनों पदार्थों का अधिकरणता के निरूपक के रूप में व्यवहार होता है।[३३]

[सु.६५] पादटीका में कार्यता और कारणता का परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव प्रकट किया गया है, वहाँ भी कार्यता जैसे कारणता से निरूपित होती है वैसे ही कारण से निरूपित होती है और कारणता जैसे कार्यता से निरूपित होती है वैसे ही कार्य से निरूपित होती है। इस कारण से कार्य कारणता का निरूपक होता है तथा कारण कार्यता का निरूपक होता है किन्तु कार्य और कारण में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव का व्यवहार नहीं होता है अर्थात् कार्य तथा कारण अनुक्रम से कारण तथा कार्य का निरूपक नहीं होता है।

[सु.६६] वृत्तिता के अर्थ में जैसे आधेयता शब्द का व्यवहार होता है वैसे कहीं कहीं निरूपकता शब्द का भी व्यवहार होता है।

[सु.६७] जैसे कार्यता और कारणता के बीच तथा उद्देश्यता और विधेयता के बीच परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है उसी प्रकार अनेक युगलधर्मों के बीच परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है। जैसे प्रतियोगिता और (प्रतियोगिता की–) अवच्छेदकता, संसर्गता और (संसर्गता की–) अवच्छेदकता, कार्यता और (कार्यता की–) अवच्छेदकता, कारणता और (कारणता की–) अवच्छेदकता, प्रतिबध्यता और प्रतिबन्धकता, प्रतिबध्यता और (प्रतिबध्यता की–) अवच्छेदकता, प्रतिबन्धकता और (प्रतिबन्धकता की–) अवच्छेदकता – इत्यादि सभी युगलधर्मों के बीच परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है।

[सु.६८] अधिकरण से निरूपित वृत्तिता निश्चय ही अधिकरणता से निरूपित होती है। इस कारण से अधिकरणता से निरूपित वृत्तिता (होती है इस–) के उदाहरण–वर्णन के प्रसंग पर मूल में 'कुण्डनिरूपितवृत्तिता...' इस प्रकार कहा गया है। इस प्रकार वृत्तिपदार्थ से निरूपित अधिकरणता अवश्य वृत्तिता से निरूपित होने के कारण वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता (होती है इस–) के उदाहरण–वर्णन के प्रसंग पर मूल में 'बदरनिरूपिताधिकरणता...' ऐसा कहा गया है। अथवा ('कुण्डे बदरम्' और 'बदरवत् कुण्डम्' इन दो वाक्यों की स्पष्टता के लिये प्रत्येक वाक्य के–) कहे गये दोनों कल्प (=

अर्थ/व्याख्या) का स्पष्ट रूप से वृत्तिता और अधिकरणता के पारस्परिक निरूपकनिरूपकभाव को बताने के लिये ग्रहण किया गया है।

❊ टिप्पणी ❊

३०. वृत्तिता तथा अधिकरणता – अपने सापेक्ष धर्म तथा उस धर्म का धर्मी – इन दोनों से निरूपित होती है, इसका रेखांकन –

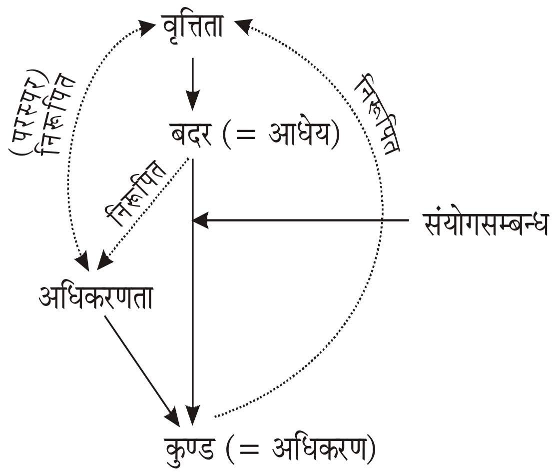

३१. सापेक्ष धर्म ही निरूपित होता है, उसका धर्मी नहीं। इसका रेखांकन –

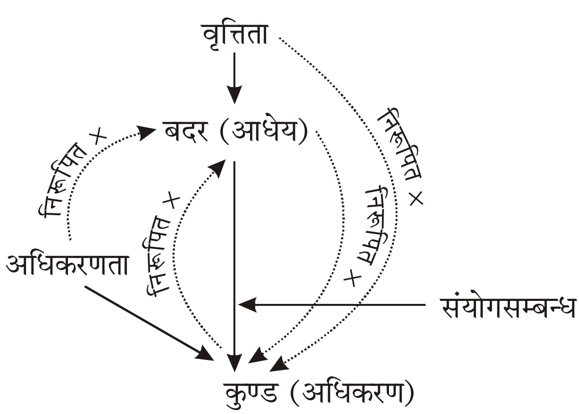

३२. कौन किसका निरूपक होता है, इसका रेखांकन –

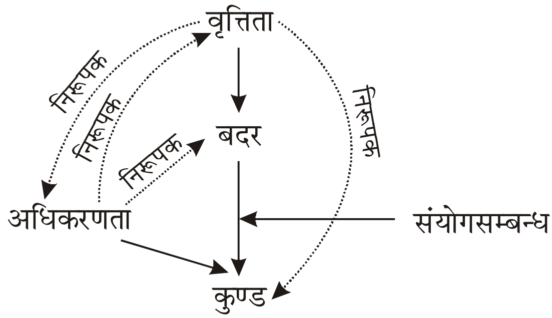

३३. निरूप्य-निरूपकभाव की व्यवस्था में ऐसा नियम है कि हमेशा आधेयता, अधिकरणता आदि धर्म ही निरूपित होते हैं। आधेय या अधिकरण आदि धर्मी कभी भी निरूपित नहीं होते हैं। इसके ठीक विपरीत निरूपक कौन होगा और कौन नहीं होगा ? इसमें कोई नियम नहीं है। आधेय तथा अधिकरण आदि धर्मी भी अनुक्रम से अधिकरणता तथा आधेयता के निरूपक बनते हैं और आधेयता तथा अधिकरणता आदि धर्म भी अनुक्रम से अधिकरणता तथा आधेयता के निरूपक बन सकते हैं।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.१९] सम्बन्धवदभावस्यापि एकं प्रतियोगि अपरञ्च अनुयोगि अस्ति। यः अभावः यस्य विरोधी प्रतिपक्षः, यश्चाभावो यस्य, 'घटस्य अभावः', 'पटस्य अभावः' इत्यादिरीत्या यत्सम्बन्धितया अभावः प्रतीयते, तत् तस्य अभावस्य प्रतियोगि भवति । यथा-यत्र घटाभावोऽस्ति, तत्र घटो नैव तिष्ठति इति घटाभावो घटस्य विरोधी। एवयमभावो घटस्येति घटाभावस्य घटः प्रतियोगी, रूपाभावस्य रूपं प्रतियोगि । यत्र अभावो वर्तते, तद् अभावस्य अनुयोगि भवति। यथा- वायुः रूपाभावस्य अनुयोगी। घटादिः जड़पदार्थः ज्ञानाभावस्य । प्रतियोगिनि प्रतियोगिता, अनुयोगिनि च अनुयोगिता वर्तते।

※ सुप्रभा ※

[सु.६९] 'योऽभावो यस्य विरोधी' इत्यत्र विरोधी इति पदस्यार्थोऽसमानाधिकरणोऽर्थादेकाधिकरणे अवर्तमानम् इति । परन्तु केवलस्य तस्यैव प्रतियोगिलक्षणत्वे कपिसंयोगादेरिव कपिसंयोगाभावरूपस्य अव्याप्यवृत्तेः तादृशाभावस्य प्रतियोगिनि अव्याप्तिः स्यात् । अतस्तन्निराशाय विरोधीत्यस्याभिन्नदेशकालावच्छेदेनैकत्रावर्तमान इति । तस्मिन् अर्थे स्वीकृते कपिसंयोगादिरूपस्याव्याप्यवृत्तिपदार्थस्य तदभावेन सह एकाधिकरणे वर्तमानत्वेऽपि अभिन्नदेशकालावच्छेदेन एकाधिकरणेऽवर्तमानत्वात् अव्याप्तिर्न भवति । प्रतियोगिनः व्याप्यपदार्थेऽतिव्याप्तिवारणार्थं मूले 'यश्चाभावो यस्य' इत्यंशः प्रयुक्तः । तत्र 'यस्य' इति पदस्यार्थः यत्सम्बन्धित्वेन व्यवहारविषय इति । अत एव घटाभावादिरभावो घटादिरूपप्रकृतप्रतियोगिसम्बन्धित्वरूपेणैव व्यवहृतो भवति, न तु प्रतियोगिव्याप्यसम्बन्धित्वरूपेण । अस्मादेव तस्यांशस्य निवेशेन व्याप्येऽतिव्याप्तिर्निरस्ता भवति । तस्मादेव मूले 'यत्सम्बन्धितया अभावः प्रतीयते' इत्येवं विवरणं प्रदत्तम् ।

[सु.७०] उदयनाचार्यः स्वीयकुसुमाञ्जलिग्रन्थे 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' इतिकारिकांशद्वाराभावाभावं प्रतियोगिस्वरूपत्वेन वर्णयामास। घटाभावाभावः युक्त्या तर्कानुरोधेन च घटस्वरूपो न त्वतिरिक्तोऽभाव इति स्वीकृतः । अत एव घटः घटाभावस्य प्रतियोगी ।

[सु.७१] व्याप्तिपञ्चकरहस्ये 'प्रतियोगितावच्छेदकवत् प्रतियोग्यपि अन्योन्याभावाभावः' इति मथुरानाथोक्तसिद्धान्तावलम्बनेन भेदाभावस्यापि भेदप्रतियोगिस्वरूपत्वात् आचार्यलक्षणस्याव्याप्तिर्न भवति। मूलोक्तविरोधित्वस्य विशदं तात्पर्यमेतद्यत्- अभावः द्विविधः-भावः भावभिन्नश्च । भावरूपोऽभावो यथा घटाभावाभावः । स च घटरूपभावपदार्थस्वरूपः । भावभिन्नोऽभावो यथा घटाभावः पटाभावः इत्यादिः । भावरूपस्य घटाभावाभावादेः प्रतियोगितालक्षणघटकं प्रकृतं विरोधित्वं हि प्रथमाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेनाभावस्याधिकरणे दैशिकविशेषणतासम्बन्धेनावृत्तित्वम् इति। तादृशसम्बन्धविशेषनियन्त्रिते विरोधित्वेऽनुक्ते कालिकादिसम्बन्धेन घटाभावस्याधिकरणे कालिकादिसम्बन्धेन प्रकृतप्रतियोगित्वाभिमतस्याभावस्य घटादिस्वरूपस्य वृत्तित्वात् अव्याप्तिरापतेत् । (तद्विरोधित्वञ्च) घटाभावादिरूपभावभिन्नाभाव-

स्थले प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोगित्वाभिमतवस्तुनोऽधिकरणे दैशिकविशेषणतासम्बन्धेनावृत्तित्वम् । अन्यथा कालिकादिसम्बन्धमादा-याव्याप्तिरापतेत् । उक्तविवरणानुसारेण वक्ष्यमाणोदाहरणस्थलेऽपि सम्बन्धविशेषः निवेश्यः ।

[सु.७२] 'रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः' इति कारिकादेः निर्देशानुसारं वायुः रूपशून्य इति सिद्धः । अत एव वायौ रूपाभावस्य विद्यमानत्वात् वायुः रूपाभावस्य अनुयोगी ।

[सु.७३] तर्कसंग्रहकारोऽन्नम्भट्ट आह–'ज्ञानाधिकरणमात्मा' इति । आत्मा इत्यस्यार्थः जीवात्मा परमात्मा च । एतौ विहाय निखिलपदार्थ एव ज्ञानाभाववान्नचेतनो जडः । अत एव ते ज्ञानाभावस्य अनुयोगिनः ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.१९] सम्बन्ध की तरह अभाव का भी एक प्रतियोगी और दूसरा एक अनुयोगी होता है । जो अभाव जिसका विरोधी या प्रतिपक्ष होता है अथवा जो अभाव जिस पदार्थ का होता है अर्थात् 'घट का अभाव' या 'पट का अभाव' इस प्रकार अभाव जिसके सम्बन्धी के रूप में प्रतीत होता है, वह पदार्थ उस अभाव का प्रतियोगी होता है । जैसे – जहाँ घट का अभाव है वहाँ घट नहीं रहता है अतः घट का अभाव घट का विरोधी है । 'यह घट का अभाव है' यहाँ घट के अभाव का प्रतियोगी घट है ।[३४] इसी प्रकार रूप के अभाव का प्रतियोगी रूप है । अभाव जिस आधार मे रहता है वह अभाव का अनुयोगी होता है । जैसे वायु रूप के अभाव का अनुयोगी है, क्योंकि वायु में रूप नहीं रहता है । घट आदि जड़ पदार्थ ज्ञान के अभाव के अनुयोगी हैं, क्योंकि उन जड़ पदार्थों में ज्ञान नहीं रहता । अभाव का जो प्रतियोगी होता है उसमें प्रतियोगिता रहती है और अनुयोगी में अनुयोगिता रहती है ।

[सु.६९] 'योऽभावो यस्य विरोधी' अर्थात् 'जो अभाव जिसका विरोधी होता है' यहाँ 'विरोधी' इस पद का अर्थ 'असमानाधिकरण' अथवा 'एक अधिकरण में अवर्तमान' ऐसा होता है । परन्तु मात्र (जो अभाव जिसका असमानाधिकरण होता है वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है–) इतने को ही

प्रतियोगी का लक्षण मानने पर कपिसंयोग की तरह अव्याप्यवृत्ति ऐसे कपिसंयोगाभाव के प्रतियोगी में अव्याप्ति होगी (–क्योंकि कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव एक ही अधिकरण में रहते हैं।) उस अव्याप्ति दोष को निरस्त करने के लिये 'विरोधी' इस पद का अर्थ 'अभिन्न ऐसे देश और काल के अवच्छेद से एक जगह पर नहीं रहा हुआ' – ऐसा स्वीकार करने पर कपिसंयोग आदि अव्याप्यवृत्ति पदार्थ के उसके अभाव के साथ एक अधिकरण में रहने पर भी अभिन्न ऐसे देश और काल के अवच्छेद से एक अधिकरण में नहीं रहने के कारण अव्याप्ति नहीं होती है। प्रतियोगी के व्याप्य पदार्थ में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये मूल में 'जो अभाव जिसका होता है–' इस अंश का प्रयोग किया गया है। उस वाक्य में 'जिसका' इस पद का अर्थ 'जिस के सम्बन्धी के रूप में व्यवहार का विषय' (होता है)–ऐसा होता है। इस (–ऊपरोक्त नियम) के कारण से ही घटाभाव आदि अभाव घट आदि अपने प्रतियोगी के सम्बन्धी के रूप में जाना जाता है, किन्तु अपने प्रतियोगी के व्याप्यपदार्थ के सम्बन्धी के रूप में नहीं जाना जाता है। इस कारण से ही उस ('यश्चाभावो यस्य') अंश को जोड़ने से (प्रतियोगी के–) व्याप्यपदार्थ में अतिव्याप्ति नहीं होती है। इसी कारण से मूल में 'जिसके सम्बन्धी के रूप में अभाव प्रतीत होता है' – इत्यादि विवरण दिया गया है।

[सु.७०] उदयनाचार्य ने अपने न्यायकुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थ में 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' (= अभाव के विरह = अभाव स्वरूप होना ही वस्तु की प्रतियोगिता है) इस कारिकांश के द्वारा अभाव के अभाव का प्रतियोगी के रूप में वर्णन किया है। घट के अभाव का अभाव घट स्वरूप है किन्तु अलग अभाव नहीं है ऐसा युक्ति तथा तर्क के अनुरोध से स्वीकार किया गया है। इसी लिये घट घटाभाव का प्रतियोगी होता है।

[सु.७१] 'अन्योन्याभाव का अभाव जैसे प्रतियोगितावच्छेदक होता है वैसे प्रतियोगी भी होता है' – इस प्रकार मथुरानाथ तर्कवागीश के द्वारा व्याप्तिपञ्चकरहस्य में कहे गये सिद्धान्त का अवलम्बन करने से (उस मत में –) भेद का अभाव भी भेद का प्रतियोगी स्वरूप होने के कारण उदयनाचार्य के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। मूलग्रन्थ में जो विरोधित्व का व्याख्यान किया गया है उसका सूक्ष्म तात्पर्य यह है कि – अभाव दो प्रकार का है, भावस्वरूपवाला अभाव

तथा भावस्वरूप से भिन्न स्वरूपवाला अभाव । भावस्वरूप अभाव (का दृष्टान्त) जैसे घटाभावभाव । वह अभाव घट रूप जो भावपदार्थ है तत्स्वरूप है। भावस्वरूप से भिन्न स्वरूपवाले अभाव (के दृष्टान्त) जैसे घटाभाव, पटाभाव इत्यादि हैं। भाव स्वरूप घटाभावाभाव आदि में प्रतियोगिता के लक्षण का घटक ऐसा जो विरोधित्व है वह–'प्रथमाभाव (= घटाभाव) का अधिकरण–जो प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से अभाव का अधिकरण हो–उसमें दैशिकविशेषणतासम्बन्ध से (घटाभाव का–) न रहना'–इस प्रकार है । यदि उस प्रकार नियत सम्बन्ध से नियन्त्रित ऐसे विरोधित्व को नहीं कहते हैं, तो कालिकादि सम्बन्ध से प्रकृत स्थल में प्रतियोगी के रूप में इच्छित घटाभाव के अधिकरण में कालिकादि सम्बन्ध से घट स्वरूप अभाव (= घटाभावाभाव) की वृत्ति होने के कारण अव्याप्ति की आपत्ति होगी । घटाभाव आदि भाव स्वरूप से भिन्न अभाव के स्थल में (प्रतियोगिता के लक्षण का घटक–) वह विरोधित्व 'प्रतियोगी के रूप में स्वीकृत वस्तु का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से जो अधिकरण उसमें दैशिकविशेषणतासम्बन्ध से न रहना' – इस प्रकार है। अन्यथा कालिकादि सम्बन्ध को ग्रहण करने पर अव्याप्ति की आपत्ति होगी। यहाँ (सम्बन्ध के निवेश सम्बन्धी–) जो विवरण दिया है, उसके अनुसार आगे भी जो उदाहरण कहे जायें वहाँ यथायोग्य सम्बन्धविशेषों का निवेश करना चाहिये।

[सु.७२] 'प्रथम तीन (द्रव्य) रूप, द्रवत्व और प्रत्यक्ष की योग्यता वाले होते हैं' – इस प्रकार (कारिकावली में साधर्म्य–वैधर्म्य प्रकरण के मध्य में स्थित) कारिका के निर्देशानुसार 'वायु में रूप नहीं होता है' – ऐसा सिद्ध होता है । इस कारण से वायु में रूप का अभाव विद्यमान होने के कारण वायु रूपाभाव का अनुयोगी होता है।

[सु.७३] 'तर्कसंग्रह' नामक ग्रन्थ के कर्त्ता अन्नम्भट्ट ने लिखा है कि – 'ज्ञान का अधिकरण आत्मा है।' आत्मा का अर्थ है – जीवात्मा और परमात्मा। इन दोनों को छोड़कर सभी पदार्थ ज्ञान के अभाववाले, अचेतन और जड़ होते हैं। इसी कारण से सभी जड़ पदार्थ ज्ञानाभाव के अनुयोगी होते हैं।

❊ टिप्पणी ❊

३४. अभाव के अनुयोगी और प्रतियोगी का रेखांकन –

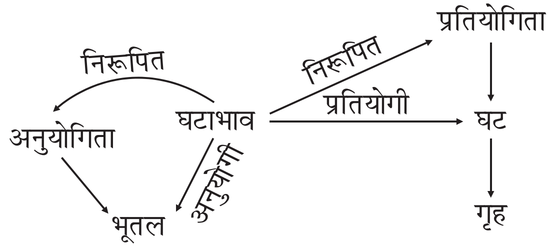

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२०] एकत्र एकेन सम्बन्धेन वर्तमानस्यापि सम्बन्धान्तरेण अभावो वर्तते । यथा-भूतले संयोगेन सम्बन्धेन वर्तमानस्यापि घटस्य समवायसम्बन्धेनाभावः । एवमेकेन रूपेण वर्तमानस्यापि रूपान्तरेण अभावो भवति । यथा-शुक्लपटवति गृहे पटत्वरूपेण सामान्यधर्मेण वर्तमानस्यापि नीलपटत्वरूपेण विशेषधर्मेण, बहिर्वृत्तित्वरूपेण वा विशिष्टधर्मेण, पटघटोभयत्वरूपेण वा उभयत्वपुरस्कारेण अभावो भवति । न हि शुक्लपटस्य विद्यमानत्वेनैव नीलपटस्यापि वृत्तिता भवति । नापि च बहिर्वृत्ति (बहिरवस्थानदशायां) पटो गृहे वर्तते । एवं गृहे केवलस्य पटस्य सत्त्वेऽपि घटस्याभावेन पटघटोभयस्यापि अभावोऽस्त्येव । एकाभावेन उभयाभावस्य अवश्यम्भावित्वात् । इत्येवमभावस्य सम्बन्धविशेषकृतं धर्मविशेषकृतञ्च वैलक्षण्यं भवति ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.७४] येन सम्बन्धेन यद्धर्मविशिष्टं वस्तु यस्मिन् अधिकरणे वर्तते तदधिकरणे तत्सम्बन्धावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणता तिष्ठति । तयाधिकरणतया तत्सम्बन्धावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकाभावस्य विरोधिता सिद्धा । अत एव यस्मिन् गृहे संयोगसम्बन्धेन शुक्लपटत्वरूप-धर्मविशिष्टं शुक्लपटरूपं वस्तु तिष्ठति तत्र संयोगसम्बन्धावच्छिन्नशुक्ल-पटत्वावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणतारूपविरोधिनः सत्त्वात् तत्र 'संयोगेन

शुक्लपटो नास्ति' इत्याकारकः संयोगसम्बन्धावच्छिन्नशुक्लपटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपकाभावः स्थातुं नार्हति। किन्तु शुक्लपटाधिकरणे गृहे 'संयोगेन नीलपटो नास्ति' इत्याकारकः संयोगसम्बन्धावच्छिन्ननीलपटत्वरूप-धर्मान्तरावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकोऽभावस्तथा 'समवायेन शुक्लपटो नास्ति' इत्याकारकः समवायसम्बन्धावच्छिन्नशुक्लपटत्वरूपधर्मावच्छिन्नप्रतियोगि-ताकोऽभावः वर्तते, यतः तद्गृहं संयोगेन शुक्लपटाधिकरणं सदपि संयोगेन नीलपटाधिकरणं समवायेन वा शुक्लपटाधिकरणं न भवति। अत एव तस्मिन् संयोगसम्बन्धावच्छिन्ननीलपटत्वरूपधर्मावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणताया अविद्यमानत्वात् 'संयोगेन नीलपटो नास्ति' इत्येवं धर्मान्तरावच्छिन्नप्रतियोगिता-निरूपकः 'संयोगेन नीलपटो नास्ति' इत्याकारकोऽभावस्तथा समवायसम्बन्धा-वच्छिन्नशुक्लपटत्वरूपधर्मावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणतारूपविरोधिधर्मस्य असत्त्वात् 'समवायेन शुक्लपटो नास्ति' इत्याकारकः समवायसम्बन्धावच्छिन्न-शुक्लपटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकोऽभावः स्थातुमर्हति । सामान्यधर्म-मात्रावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणतया सह विशेषाभावस्य विरोधिताया असत्त्वात् शुक्लपटवति गृहे पटत्वरूपसामान्यधर्ममात्रावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिता-धिकरणताया विद्यमानत्वेऽपि 'नीलपटो नास्ति' इत्याकारकविशेषाभावस्य विद्यमानताविषये नास्ति कोऽपि बाधः ।

[सु.७५] यद्वस्तु बहिर्वर्तते तद्गतवृत्तितानिरूपिताधिकरणता बहिरेव वर्तते, न तु गृहे। अत एव गृहे 'बहिर्वृत्ति वस्तु नास्ति' इत्याकारकोऽभावस्तिष्ठति।

[सु.७६] अत्रेदं बोध्यं यत् पूर्वोक्तं शुक्लपटत्वनीलपटत्वादयो धर्मा नाखण्डाः। ते प्रोक्ताः प्रतियोगितादयः धर्माः शुक्लपटत्वे नीलपटत्वे इत्येताभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां धर्माभ्यामवच्छिन्नाः। घटपटौ वस्तुनी यत्र मिलितभावेन वर्तते तत्र घटपटोभयत्वावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणता वर्तते, तद्वस्तुनोः प्रत्येकमधि-करणे तदुभयत्वावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणता न तिष्ठति । अत एव तत्र प्रकृतोभयत्वावच्छिन्नप्रकृतवृत्तितानिरूपिताधिकरणतारूपविरोधिनः धर्मस्या-सत्त्वात् घटपटोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकोऽभावः वर्तते । अस्मादेव एकाभावप्रयुक्तः उभयाभाव इत्युच्यते । एवं त्रितयाभावचतुष्टयाभावादिरपि त्रितयचतुष्टयादिघटकस्य एकस्य द्वयोर्वाभावप्रयुक्तः एव इत्यवधेयम्। प्रसङ्गतोऽत्र एतदपि ज्ञातव्यं यत् घटपटोभयाभावादिस्थले न केवलं तत्तदुभयत्वमेव

प्रतियोगितावच्छेदकम् । अपितु घटत्वं पटत्वमुभयत्वञ्चेते त्रयो धर्माः प्रतियोगितावच्छेदकाः । शक्तिवादग्रन्थे गदाधरभट्टाचार्यः विषयमिमं युक्त्या प्रोवाच ।

❋ अनुवाद ❋

[नव्य.२०] एक स्थान पर एक सम्बन्ध से रहती हुई वस्तु का अन्य किसी सम्बन्ध से अभाव रहता है । जैसे - भूतल पर संयोगसम्बन्ध से रहते हुए घड़े का समवायसम्बन्ध से अभाव रहता है । इस प्रकार एक स्वरूप से रहती हुई वस्तु का अन्य रूप से अभाव होता है । जैसे - शुक्ल पट वाले घर में पटत्व रूप सामान्य धर्म से रहते हुए भी पट का नीलपटत्व रूप विशेष धर्म से अथवा बहिर्वृत्तित्व अर्थात् 'बाहर रहना' इस विशेष धर्म से अथवा घट-पट-उभयत्व अर्थात् घट-पट दोनों के उभयत्व का पुरस्कार करने से अभाव होता है । क्योंकि शुक्ल पट के विद्यमान होने से ही नील पट की भी वृत्तिता नहीं होती है तथा बाहर रहा हुआ पट भी घर में नहीं रहता है । इस प्रकार घर में पट मात्र के होने पर भी घट का अभाव होने से पट-घट दोनों का अभाव भी है । क्योंकि एक का अभाव होने पर दोनो का अभाव अवश्य होता है । इस प्रकार सम्बन्ध विशेष से या धर्म विशेष से अभाव की विलक्षणता होती है ।

[सु.७४] जिस सम्बन्ध से जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु जिस अधिकरण में रहती है, उस अधिकरण में उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न और उस धर्म से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता रहती है । उस अधिकरणता के साथ उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न और उस धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की विरोधिता सिद्ध है । इसी कारण से जिस घर में संयोगसम्बन्ध से शुक्लपटत्वधर्म से विशिष्ट शुक्लपट स्वरूप वस्तु रहती है, उस घर में संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न और शुक्लपटत्वधर्म से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता स्वरूप विरोधी के विद्यमान होने के कारण वहाँ 'संयोग से शुक्लपट नहीं है' - ऐसा आकार वाला संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न और शुक्लपटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव नहीं रह सकता है । परन्तु (संयोग से) शुक्लपट के अधिकरण स्वरूप गृह में 'संयोग से नीलपट नहीं है' - ऐसा आकारवाला संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न और नीलपटत्व स्वरूप धर्मान्तर (= अन्यधर्म) से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का

निरूपक अभाव तथा 'समवाय से शुक्लपट नहीं है' – ऐसा आकारवाला समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न और शुक्लपटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव रहता है। क्योंकि वह घर संयोगसम्बन्ध से शुक्लपट का अधिकरण होते हुए भी संयोगसम्बन्ध से नीलपट का अधिकरण अथवा समवायसम्बन्ध से शुक्लपट का अधिकरण नहीं होता है। इसी कारण से उस घर में संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न और नीलपटत्वधर्म से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता के न रहने के कारण 'संयोग से नीलपट नहीं है' इस प्रकार धर्मान्तर से अवच्छिन्न ऐसी प्रतियोगिता का निरूपक – 'संयोग से नीलपट नहीं है – ऐसा आकारवाला अभाव (रह सकता है) तथा (उस घर में) समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न और शुक्लपटत्वधर्म से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता स्वरूप विरोधी धर्म के न रहने के कारण 'समवायसम्बन्ध से शुक्लपट नहीं है'–ऐसा आकारवाला समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न और शुक्लपटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव रह सकता है। सामान्यधर्ममात्र से अवच्छिन्न ऐसी वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता के साथ विशेषाभाव की विरोधिता न होने के कारण शुक्लपटवाले घर में पटत्व स्वरूप सामान्यधर्ममात्र से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता के विद्यमान होने पर भी 'नीलपट नहीं है'–ऐसे आकारवाले विशेषाभाव की विद्यमानता के विषय में कोई बाधा नहीं है।

[सु.७५] जो वस्तु (घर के) बाहर (के देश में) रहती है, उस वस्तु में रहनेवाली वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता (भी घर के) बाहर (के देश में) ही रहती है, किन्तु घर में नहीं रहती हैं। इसी कारण से घर में (घर के) 'बाहर (के देश में) रहनेवाली वस्तु नहीं है' – ऐसा आकारवाला अभाव रहता है।

[सु.७६] यहाँ यह जानना चाहिये कि पूर्व में कहे गये शुक्लपटत्व, नीलपटत्व आदि धर्म अखण्डधर्म नहीं हैं। उसके विषय में कहे गये प्रतियोगिता आदि धर्म भी शुक्लत्व और पटत्व तथा नीलत्व और पटत्व इस प्रकार दो दो धर्म से अवच्छिन्न है। जहाँ घट और पट ये दोनों वस्तुएँ एक साथ रहती है वहाँ घटत्व, पटत्व और उभयत्व से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता रहती है। उन दो वस्तुओं में से किसी एक के अधिकरण में वह (घटत्व, पटत्व और–) उभयत्व से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता

नहीं रहती है। इसी कारण से वहाँ (= केवल घट अथवा पट के अधिकरण में) प्रकृत (घटत्व, पटत्व और) उभयत्व से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता स्वरूप विरोधी धर्म के न होने के कारण घटत्व, पटत्व और उभयत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव रहता है। इस कारण से ही 'एक के अभाव से प्रयुक्त उभयाभाव होता है' ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार त्रितयाभाव (= तीन वस्तुओं का अभाव), चतुष्टयाभाव (चार वस्तुओं का अभाव) आदि भी त्रितय, चतुष्टय आदि के घटक किसी एक या दो (वस्तुओं) के अभाव से प्रयुक्त ही होता है ऐसा जानना चाहिये। प्रसंग से यहाँ यह भी जानना चाहिये कि घटपटोभयाभाव आदि के स्थल में सिर्फ तत्तदुभयत्व (= घटपटोभयत्व, पटमठोभयत्व, मठघटोभयत्व इत्यादि) ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं बनता है किन्तु घटत्व, पटत्व और उभयत्व ये तीनों धर्म प्रतियोगिता के अवच्छेदक बनते हैं। शक्तिवाद ग्रन्थ में गदाधर भट्टाचार्य ने इस विषय का युक्ति पूर्वक व्याख्यान किया है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२१] तच्च अभावस्य वैलक्षण्यं प्रतियोगितावैलक्षण्यनिबन्धनमिति तदेवोच्यते। अभावस्य प्रतियोगिता केनचित् सम्बन्धेन केनचिद्धर्मेण च अवच्छिन्ना भवति। येन सम्बन्धेन येन वा धर्मेण अवच्छिन्ना भवति, स सम्बन्धः स च धर्मः तस्याः प्रतियोगिताया अवच्छेदको भवति। यथा 'भूतले समवायसम्बन्धेन घटो नास्ति' इत्यादौ घटाभावस्य प्रतियोगिता समवायेन सम्बन्धेन घटत्वेन च धर्मेण अवच्छिन्ना। ततश्च तस्याः प्रतियोगितायाः समवायः सम्बन्धः, घटत्वञ्च धर्मोऽवच्छेदकः। अत एव 'समवायेन घटो नास्ति' इत्यस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावो वर्तत इत्यर्थः।

❊ सुप्रभा ❊

[सु. ७७] मूले 'समवायेन घटो नास्ति' इति वाक्यस्यार्थविवरणे 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः' इति पदं यदुक्तं तत्र

बहुव्रीहिसमासत्वात् समासान्त'क'प्रत्ययेन तत् निष्पन्नम् । तस्यार्थः 'तादृशप्रतियोगितानिरूपक' इति ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२१] अभाव की विलक्षणता प्रतियोगिता की विलक्षणता के कारण होती है, अतः अब उसी विषय को कहते हैं । अभाव की प्रतियोगिता किसी सम्बन्ध से और किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है । प्रतियोगिता जिस सम्बन्ध से और जिस धर्म से अवच्छिन्न होती है, वह सम्बन्ध और वह धर्म उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है । जैसे – 'भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट नहीं है' – यहाँ घटाभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध और घटत्व धर्म से अवच्छिन्न है ।[३५] समवाय सम्बन्ध और घटत्व धर्म उस प्रतियोगिता के अवच्छेदक है । इस कारण से ही 'समवाय से घट नही है' इस वाक्य का 'समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न और घटत्व धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव है' ऐसा अर्थ होता है ।

[सु.७७] मूल में 'समवायेन घटो नास्ति' इस वाक्य के अर्थ का विवरण करने के प्रसंग में 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः' ऐसा पद जो कहा गया है, वहाँ (= उस पद में) बहुव्रीहि समास होने के कारण समास के अन्त में लगने वाले 'क' प्रत्यय से वह पद बना है । उस 'क' प्रत्यय का अर्थ है तादृश प्रतियोगिता का 'निरूपक' ।

❊ टिप्पणी ❊

३५. अभाव की प्रतियोगिता किसी धर्म तथा सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है, इसका रेखांकन –

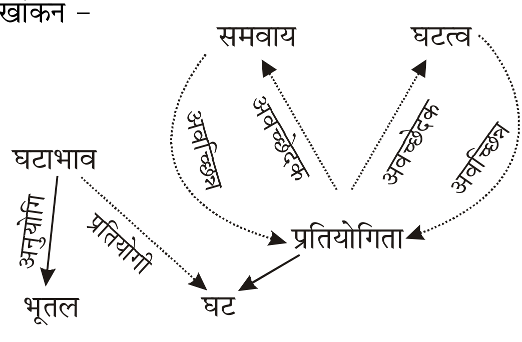

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२२] सम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वीकारे युक्तिरियं-सामान्यतः कस्यापि कुत्रापि प्रायशोऽभावो नास्ति। अन्ततः कालिकसम्बन्धेन सर्वस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात्। ततश्च अभावस्य अन्तरा कश्चित् सम्बन्धोऽस्तीति अवश्यमङ्गीकार्यम्। अभावस्यान्तरा प्रविशन् सम्बन्धः प्रतियोगितामेव अवच्छिन्दन् (विशेषयन्) सम्भवति, नान्यथा। येन सम्बन्धेन यत्र यन्नास्ति, स एव सम्बन्धस्तत्र तदभावस्य प्रतियोगितामवच्छिनत्ति (विशेषयति)। अत एव स एव सम्बन्धस्तस्या अवच्छेदको भवति। प्रतियोगिता च तेन सम्बन्धेनावच्छिन्ना भवति। यथा-'भूतले समवायसम्बन्धेन घटो नास्ति' इत्यत्र समवायसम्बन्धः भूतले घटाभावस्य प्रतियोगितां विशेषयतीति घटाभावस्य प्रतियोगिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना। समवायसम्बन्धश्च तस्याः प्रतियोगिताया अवच्छेदकः। तथा च सम्बन्धस्य अवच्छेदकत्वं विशेषकत्वरूपमिति फलितम्।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.७८] 'कालिकसम्बन्धेन सर्वस्य सर्वत्र विद्यमानत्वम्' इति मूलसन्दर्भविषये यद्वक्तव्यमस्ति तत् पूर्वमेव विवृत्तम्। अत एवात्र साऽऽलोचना परिहृता।

[सु.७९] धर्मसम्बन्धयोः प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वीकारविषये मूलोक्तयुक्त्यपेक्षया युक्तिरियं समीचीना यत् साधारणनियमानुसारेण प्रतियोगिनोऽधिकरणे तत्प्रतियोगिनोऽभावो न तिष्ठति। तस्य नियमस्य रक्षणाय प्रतियोग्यधिकरणतया सहाभावस्य सहानवस्थानरूपवस्तुतान्त्रिकविरोधिता स्वीकार्या। तत्र सम्बन्धमन्तर्भूतं न कृत्वा यदि सामान्यतया प्रतियोगिनिष्ठवृत्ति-तानिरूपिताधिकरणता तदभावस्य विरोधिनी इत्येव केवलमुच्येत तदा संयोगसम्बन्धेन घटादेरधिकरणे भूतलादौ समवायसम्बन्धेन घटाद्यभावमादाय

प्रोक्तविरोधिताया नियमो भग्नो भवेत् । अत एव सम्बन्धविशेषं वृत्तिताप्रतियोगितयोरवच्छेदकं स्वीकृत्य तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिनिष्ठवृत्तितानिरूपिताधिकरणता तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य विरोधिनी इत्येवं नियमे स्वीकृते न स दोषो भवति। यतः भूतलादौ संयोगसम्बन्धेन घटादेः वृत्तितास्थले भूतलादिगतघटारूधिकरणता संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटादिनिष्ठवृत्तितानिरूपिता तथा प्रकृताभावश्च समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपको भवति। अत एव उक्तस्थले वृत्तिताप्रतियोगितयोः समानसम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावात् उक्तनियमभङ्गप्रसङ्गो न भवति।

[सु.८०] तादृशं सम्बन्धमन्तर्भूतं न कृत्वा प्रोक्तवस्तुतान्त्रिकविरोधितायां स्वीकृतायां संयोगसम्बन्धेन घटाद्यधिकरणे भूतलादौ 'समवायेन घटो नास्ति' इत्याद्यभावस्यासत्त्वप्रसङ्गो वारयितुं न शक्येत । अत एव वृत्तिताप्रतियोगितयोर्विषये समानसम्बन्धावच्छिन्नत्वघटिता विरोधिता स्वीकार्या।

[सु.८१] कारणान्तरवशादपि सम्बन्धः प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन स्वीकार्यः। तथाहि भावाभावज्ञानयोः पारस्परिकी प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावरूपा वैज्ञानिकी विरोधिता शास्त्रसिद्धानुभवसिद्धा च।

[सु.८२] घटवद्भूतलम् इति निश्चयं प्रति घटाभाववद्भूतलमिति निश्चयः प्रतिबन्धकः । घटवद्भूतलम् इति ज्ञाने घटरूपं विशेषणं प्रकारः, भूतलञ्च विशेष्यम् इत्युच्यते। किञ्च, प्रतियोगिनि यथा प्रतियोगिता तिष्ठति, तथैव प्रकारे प्रकारता, विशेष्ये च विशेष्यता तिष्ठति। तौ धर्मौ परस्परं निरूप्यनिरूपकभावापन्नौ तथा ज्ञानं निरूपकम्, तद्धर्मद्वयं ज्ञाननिरूपितम्।

[सु.८३] तद्भावाभावज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावो यद्येवं कल्पितो भवेद्यत् –घटनिष्ठप्रकारतानिरूपितभूतलनिष्ठविशेष्यतानिरूपकज्ञानं प्रति भूतलनिष्ठविशेष्यतानिरूपितघटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावप्रकारतानिरूपको निश्चयः प्रतिबन्धकस्तर्हि भूतलविशेष्यकघटप्रकारकनिश्चयः पूर्वोक्ताभावप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्यकज्ञानं प्रत्यर्थात् यथा (भूतले) संयोगेन घटो नास्ति इत्याकारिकां भूतलविशेष्यकघटाभावप्रकारकबुद्धिं प्रति प्रतिबन्धको भवति तथैव (भूतले) समवायेन घटो नास्ति इत्याकारिकां घटाभावप्रकारकभूतलविशेष्यकबुद्धिं प्रत्यपि प्रतिबन्धको भवितुमर्हति। अपि च, (भूतले) संयोगेन घटो नास्ति, इत्याकारकाभावप्रकारकभूतलविशेष्यकः निश्चयः (भूतले) समवायेन

घटवद्भूतलम्, इति निश्चयं प्रत्यपि प्रतिबन्धको भवितुमर्हति । तस्मादेव (भूतले) संयोगेन घटो नास्ति, (भूतले) समवायेन घटो नास्ति, इत्यादि प्रतीतिसिद्धाभावस्थले यथाक्रमं संयोगं समवायञ्च सम्बन्धं तत्तद्भावीय-प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धत्वेन स्वीकृत्य संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटप्रकारता-निरूपितभूतलविशेष्यतानिरूपकज्ञानं प्रति संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघट-प्रतियोगिताकाभावप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्यतानिरूपकनिश्चयस्तथा संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नघटप्रतियोगिताकाभावप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्यतानिरूपक-ज्ञानं प्रति संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्यतानिरूपको निश्चयः प्रतिबन्धकः भवत्येवंरूपेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे कल्पिते प्रोक्तदोषाशङ्का न तिष्ठति । प्रोक्तरूपा युक्तिर्यथा प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धस्य साधिका तथैव वृत्तिताप्रकारतयोरवच्छेदकसम्बन्धस्यापि साधिका ।

[सु.८४] कश्चनैकः सम्प्रदायो वृत्त्यनियामकसम्बन्धं प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धत्वेन न स्वीकरोति । बहुत्र तस्योल्लेखः प्राप्यते । यथा गदाधरभट्टाचार्यः व्युत्पत्तिवादेऽवदत्-'सत्त्वादिसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकतया प्रतियोगिता-नवच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाप्रसिद्धेः' इति । तैरेवान्यत्राप्युक्तं-''तादृशसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकतया संसर्गाभावप्रतियोगिता-नवच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्य नञा प्रत्यायनासम्भवात्' इति । तन्मते तादात्म्यसम्बन्धोऽन्योन्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धो भवति । केचन पुनस्तदपि न मन्यन्ते । सिद्धान्तलक्षणस्य जागदीशीटीकायां 'साधन-वन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितायाः साध्यतावच्छेदकतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वे मानाभावस्य स्वयमेव बौद्धाधिकारटिप्पण्यामुक्तत्वात्' इत्यंशद्वारैव तत् सूचितम् । गदाधरभट्टाचार्यस्य व्युत्पत्तिवादे ''वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगता-वच्छेदकत्वे को दोषः'' इत्याद्यंशेनैव वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगिता-वच्छेदकसम्बन्धत्वं नव्यनैयायिकसम्मतमिति प्रतिपन्नं भवति ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२२] सम्बन्ध को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने में युक्ति यह है कि सामान्य रूप से किसी भी वस्तु का कहीं पर भी प्रायः अभाव नही है । क्योंकि अन्त मे कालिक सम्बन्ध से सभी वस्तु सभी जगह विद्यमान है । इसलिये अभाव के अन्दर कोई सम्बन्ध है ऐसा अवश्य

स्वीकार करना चाहिये । अभाव के अन्दर जो सम्बन्ध प्रवेश करता है वह प्रतियोगिता को विशेषित करता हुआ ही संभवित होता है, अन्यथा नहीं । जिस सम्बन्ध से जहां जो वस्तु नहीं है, वह सम्बन्ध ही वहाँ उस वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता को विशेषित करता है । इसलिये वह सम्बन्ध उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक बनता है । और प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है । जैसे - भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट नहीं है - यहाँ समवाय सम्बन्ध भूतल पर घटाभाव की प्रतियोगिता को विशेषित करता है । अतः घटाभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है । और समवाय सम्बन्ध उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक है । इस प्रकार सम्बन्ध जो अवच्छेदक बनता है वह विशेषक स्वरूप है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

[सु.७८] 'कालिकसम्बन्ध से सभी पदार्थ की सभी जगह विद्यमानता होती है'–ऐसा जो मूल में कहा गया है उसके विषय में जो कहने योग्य था वह पूर्व में ही कह दिया है । इसी कारण से यहाँ उस सम्बन्धी आलोचना छोड़ दी है ।

[सु.७९] धर्म और सम्बन्ध को प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में स्वीकार करने के विषय में मूल में जो युक्ति बताई गई है उसकी अपेक्षा यह युक्ति अधिक योग्य है कि - साधारण नियम के अनुसार प्रतियोगी के अधिकरण में उस प्रतियोगी का अभाव नहीं रहता है । उस नियम के रक्षण के लिये प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ (प्रतियोगी के) अभाव की, साथ में नहीं रहने स्वरूप वस्तुतान्त्रिक/वास्तविक विरोधिता स्वीकार करनी चाहिये । उस विरोधिता में सम्बन्ध का समावेश न करके अगर सामान्यरूप से 'प्रतियोगी में रहनेवाली वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता प्रतियोगी के अभाव की विरोधी है'–इतना ही कहते हैं तो संयोगसम्बन्ध से घट आदि के अधिकरण भूतल में समवायसम्बन्ध से घट आदि के अभाव को ग्रहण करने से ऊपरोक्त विरोधिता का नियम टूट जायेगा । इसी कारण से किसी सम्बन्धविशेष को वृत्तिता तथा प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में स्वीकार करके 'किसी निश्चित सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगी में रहनेवाली वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता उस निश्चित सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की विरोधी है' – इस प्रकार नियम स्वीकार करने पर वह दोष नहीं होता है । क्योंकि भूतल आदि में संयोगसम्बन्ध से घट आदि पदार्थ की वृत्तिता के स्थल में भूतल आदि

में रहनेवाली घटादि की अधिकरणता, संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न घट आदि में रहनेवाली वृत्तिता से निरूपित है और भूतल में जो अभाव है वह समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न घट आदि में रहनेवाली प्रतियोगिता का निरूपक होता है। इसी कारण से इस स्थल में वृत्तिता और प्रतियोगिता समान सम्बन्ध से अवच्छिन्न न होने के कारण ऊपरोक्त नियम के भंग की आपत्ति नहीं होती है।

[सु.८०] उस प्रकार (वृत्तिता और प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में) सम्बन्ध का समावेश किये बिना ही वृत्तिता और प्रतियोगिता के विषय में वस्तुतान्त्रिक विरोधिता का स्वीकार करने पर संयोगसम्बन्ध से घटादि के अधिकरण भूतलादि में 'समवायसम्बन्ध से घट नहीं है' इत्यादि (अन्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न) अभाव के नहीं रहने की आपत्ति का वारण नहीं हो सकेगा। इसी कारण से वृत्तिता और प्रतियोगिता के विषय में 'समानसम्बन्धावच्छिन्नत्व' से घटित विरोधिता स्वीकार करनी चाहिये। अर्थात् वृत्तिता और प्रतियोगिता की विरोधिता के नियम में 'वृत्तिता और प्रतियोगिता समान सम्बन्ध से अवच्छिन्न होनी चाहिए' ऐसा निवेश करना चाहिए।

[सु.८१] एक अन्य कारण से भी सम्बन्ध को प्रतियोगिता का अवच्छेदक स्वीकार करना चाहिये। वह कारण यह है कि – वस्तु के भाव के ज्ञान और अभाव के ज्ञान के बीच परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव स्वरूप विरोधिता है। जो शास्त्र से और अनुभव से सिद्ध है।

[सु.८२] 'घटवाला भूतल है' – इस निश्चय के प्रति 'घट के अभाववाला भूतल है' – यह निश्चय प्रतिबन्धक है। 'घटवाला भूतल है' – इस ज्ञान में जो घट स्वरूप विशेषण है वह प्रकार है तथा भूतल विशेष्य है ऐसा कहा जाता है और जैसे प्रतियोगी में प्रतियोगिता रहती है वैसे ही प्रकार में प्रकारता और विशेष्य में विशेष्यता रहती है। वह दोनों धर्म परस्पर निरूप्यनिरूपकभावापन्न है अर्थात् विशेष्यता और प्रकारता दोनों धर्म एक दूसरे से निरूप्य है तथा एक दूसरे के निरूपक हैं तथा ज्ञान उन दोनों धर्मों का निरूपक है और वे दोनों धर्म ज्ञान से निरूपित है।

[सु.८३] उन (ऊपर कहे हुए) भावज्ञान और अभावज्ञान के प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना अगर इस प्रकार करते हैं कि – घट में रहनेवाली प्रकारता से निरूपित ऐसी जो भूतल में रहनेवाली विशेष्यता है,

तादृश विशेष्यता के निरूपक ज्ञान के प्रति भूतल में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित ऐसी जो घट में रहनेवाली प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में रहनेवाली प्रकारता, तादृश प्रकारता का निरूपक निश्चय प्रतिबन्धक है – तो भूतल रूप विशेष्य का निरूपक और घट रूप प्रकार का निरूपक निश्चय घट में रहनेवाली प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में रहनेवाली प्रकारता से निरूपित जो भूतल में रहनेवाली विशेष्यता, तादृश विशेष्यता के निरूपक ज्ञान के प्रति (प्रतिबन्धक बनेगा) अर्थात् (वह निश्चय) जैसे '(भूतल में) संयोग से घट नहीं है' – ऐसे आकारवाली, भूतल रूप विशेष्य की निरूपक और घटाभाव रूप प्रकार की निरूपक बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धक बनता है वैसे ही '(भूतल में) समवाय से घट नहीं है' – ऐसे आकारवाली घटाभाव रूप प्रकार की निरूपक और भूतल रूप विशेष्य की निरूपक बुद्धि के प्रति भी प्रतिबन्धक बन सकता है। और भी '(भूतल में) संयोग से घट नहीं है' – ऐसा आकारवाला, घटाभाव रूप प्रकार का निरूपक और भूतल रूप विशेष्य का निरूपक ऐसा जो निश्चय है वह 'समवाय से घटवाला भूतल है' – ऐसे निश्चय के प्रति भी प्रतिबन्धक बन सकता है। उस कारण से ही '(भूतल में) संयोग से घट नहीं है', '(भूतल में) समवाय से घट नहीं है' – इत्यादि प्रतीतिसिद्ध अभावों के स्थल में अनुक्रम से संयोगसम्बन्ध और समवायसम्बन्ध को उन अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदकसम्बन्ध के रूप में स्वीकार करके – संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न घटनिष्ठ प्रकारता से निरूपित जो भूतलनिष्ठ विशेष्यता तादृश विशेष्यता के निरूपक ज्ञान के प्रति, भूतलनिष्ठ विशेष्यता से निरूपित ऐसी जो संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न घटनिष्ठ प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में रहनेवाली प्रकारता तादृश प्रकारता का निरूपक निश्चय (प्रतिबन्धक होता है) तथा संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न घटनिष्ठ प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में रहनेवाली प्रकारता से निरूपित जो भूतलनिष्ठ विशेष्यता तादृश विशेष्यता के निरूपक ज्ञान के प्रति, संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न घटनिष्ठ प्रकारता से निरूपित जो भूतलनिष्ठ विशेष्यता तादृश विशेष्यता का निरूपक निश्चय प्रतिबन्धक होता है – इस प्रकार (भाव ज्ञान और अभावज्ञान के) प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने पर पूर्व में कहे हुए दोष की आशंका नहीं रहती है। ऊपर कही गई युक्ति जैसे प्रतियोगिता के अवच्छेदकसम्बन्ध को सिद्ध करनेवाली है वैसे ही वृत्तिता और प्रकारता के अवच्छेदकसम्बन्ध को भी सिद्ध करनेवाली है।

[सु.८४] कोई एक सम्प्रदाय वृत्ति–अनियामकसम्बन्ध को प्रतियोगिता के अवच्छेदकसम्बन्ध के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। कई स्थलों पर उसका उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे– गदाधरभट्टाचार्य ने व्युत्पत्तिवाद में कहा है कि– 'सत्त्वादिसम्बन्ध वृत्ति–अनियामक होने के कारण प्रतियोगिता के अवच्छेदक नहीं होते हैं। इस कारण से सत्त्वादिसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की अप्रसिद्धि होती है।' उन्होंने गदाधर भट्टाचार्य ने ही (व्युत्पत्तिवाद में) अन्य एक जगह भी कहा है कि– 'उस प्रकार के सम्बन्ध वृत्ति–अनियामक होने के कारण संसर्गाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक नहीं होते हैं। इस कारण से उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न अभाव का नञ् से प्रत्यायन सम्भव नहीं है।' ऊपर कहे गये मत में तादात्म्यसम्बन्ध अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकसम्ब्ध होता है। कुछ लोग तो वह भी नहीं मानते हैं। सिद्धान्तलक्षण की जागदीशी टीका में – 'साधन वाले (पक्ष) में स्थित अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता को साध्यतावच्छेदक ऐसे तादात्म्यसम्बन्ध से अवच्छिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है – यह बात स्वयं ही बौद्ध अधिकार की टिप्पणी में कही है।' – इस अंश से ही वह मत सूचित किया गया है। (ऊपरोक्त अनेक मत–मतान्तर होने के बावजूद–) गदाधरभट्टाचार्य के व्युत्पत्तिवाद के–'वृत्ति–अनियामकसम्बन्ध को अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने में क्या दोष है ?' – इत्यादि अंश के द्वारा ही वृत्ति–अनियामकसम्बन्ध को प्रतियोगिता का अवच्छेदकसम्बन्ध मानने की बात नव्यनैयायिको को सम्मत है ऐसा सिद्ध होता है।

※ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ※

[न.२३] धर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे युक्तिरियम्– अभावस्य प्रतियोगिता कुत्र वर्तते, कुत्र वा न वर्तत इति निर्णयाय प्रतियोगितानियामकः कश्चिदस्तीति अवश्यमङ्गीकार्यम्। सर्वेषु प्रतियोगिषु वर्तमानः, तदन्यत्र अवर्तमानः प्रतियोगिगतः कश्चन असाधारणो धर्म एव प्रतियोगिताया नियामको भवति। य एव नियामकः स एव अवच्छेदक इत्युच्यते। यश्च नियमितः स अवच्छिन्न इति। तथाहि – घटाभावस्य घटगता प्रतियोगिता कुत्र

कुत्र वर्तते, कुत्र कुत्र वा न वर्तते ? इति प्रश्नस्योत्तरमिदमेव भवति, यत्र यत्र घटत्वं वर्तते, तत्र सर्वत्रैव घटाभावस्य घटगता प्रतियोगिता वर्तते, नान्यत्र कुत्रचित् घटत्वशून्ये; नापि च कस्मिन्नपि घटे तस्या अभाव इति घटत्वमेव घटगताया घटाभाव-प्रतियोगितायाः स्थितिनियामकम् । घटत्वेनैव घटाभावप्रति-योगिता नियमितेति नियामकत्वमेवावच्छेदकत्वम्, नियमितत्व-मेवावच्छिन्नत्वमिति ।

यश्च प्रतियोगी भवति, तत्र विशेषणतया प्रतीयमानोऽ-साधारणो धर्मः तद्गतप्रतियोगिताया अवच्छेदको भवतीति फलितार्थः ।

अथवा स्थूलत एवंरीत्या बोध्यम्-प्रतियोगिबोधक-विशेष्यपदोत्तरं 'त्व' 'ता' प्रभृतिभावप्रत्ययनिष्पन्नो (निष्पन्नपद-वाच्य) धर्मः प्रतियोगितावच्छेदको भवति । यथा-घटाभावस्य घटः प्रतियोगीति, प्रतियोगिवाचकं घटपदम्, तदुत्तरं 'त्व' प्रत्येन (घट+त्व) निष्पन्नो धर्मः (घटत्वं जातिः), घटगतप्रतियोगिताया अवच्छेदक इति । एवं रूपाभावस्य प्रतियोगिवाचकं रूपपदम्, तत्र 'त्व' प्रत्ययनिष्पन्नपदस्यार्थः रूपत्वं जातिः रूपाभावस्य प्रतियोगिताया अवच्छेदिकेति । यद्यपि अवच्छेदकत्वनियामक-त्वयोरैक्यम्, तथापि ग्रन्थकृद्भिरवच्छेदकपदस्यैव प्रयोगात् अवच्छेदकशब्द एव प्रयोक्तव्यः, न तु नियामकशब्दोऽपि; तथात्वे अप्रयुक्ततादोषः स्यात् ।

वृत्तितावत् प्रतियोगितापि अभावेन निरूपिता भवति, अभावश्च प्रतियोगिताया नियामकः[E] (?) । एवमवच्छेदक-

E मूले आदर्शे 'नियामकः' इति पाठो दृश्यते । तत्र 'निरूपक' इत्येतादृशः पाठ एवोचित इति मन्ये ।

ताप्रतियोगितयोरपि परस्परं निरूप्यनिरूपकभावोऽस्ति । अवच्छेदकतानिरूपिता प्रतियोगिता भवति, प्रतियोगिता-निरूपिता च अवच्छेदकता भवति । ततश्च 'समवायेन घटो नास्ति' इत्यस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपकोऽयमभावः ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.८५] सम्बन्धस्येव धर्मस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकत्वे प्रधाना समीचीनेयं युक्तिर्यत् प्रतियोग्यधिकरणतया सहाभावस्य वस्तुतान्त्रिकविरोधिता यद्येवं स्वीक्रियेत यत् प्रतियोगिनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतया सह अभावस्य विरोधितास्ति तदा भूतले द्रव्यं नास्ति इत्याकाराभावीयप्रतियोग्यन्तर्गत-घटरूपद्रव्यनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्भूतले द्रव्यं नास्ति इत्याकाराभावीय-प्रतियोगिद्रव्यान्तर्गतपटरूपद्रव्यनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकस्य पटो नास्ति इत्याकार-कस्याभावस्य सत्त्वात् द्रव्याद्यभावेन सह द्रव्याद्यधिकरणताया विरोधिता-विषयकस्य नियमस्य भङ्गप्रसङ्गो भवति ।

[सु.८६] यद्येवमुच्येत यत् 'यत्प्रतियोगिनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणताया-स्तत्प्रतियोगिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावेनैव विरोधितेति तथापि सत्ताधिकरणता-सत्ताभावयोः पारस्परिकविरोधिताविषयकनियमभङ्गप्रसङ्गातिक्रमः असम्भवी एव । तथाहि द्रव्यगुणकर्मसु सत्तानाम्नी एका जातिरस्ति । सा च गुणकर्मान्य-त्वविशिष्टसत्तानतिरिक्ता अर्थादभिन्ना । तथापि गुणकर्मणोः उक्तसत्ताधिकरण-त्वेऽपि 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता नास्ति' इत्यादिरूपसत्ताप्रतियोगिकाभावस्य तत्र सत्त्वात् उक्तनियमभङ्गप्रसङ्गो भवति तथोक्तसत्ताद्यधिकरणे विशिष्टसत्ता-भावादेरपि सत्त्वं नोपपद्यते । द्रव्यत्वमात्रादिजात्यखण्डोपाध्योरधिकरणतया सह तज्जात्यखण्डोपाध्योरभावस्य विरोधिताकल्पनास्थलेऽपि उक्तरूपेण दोषो ज्ञेयः । अत एव पूर्वपूर्वरूपेण प्रोक्तदोषाणां निवारणाय प्रतियोगिताधेयतयोः विभिन्नान् अवच्छेदकान् स्वीकृत्य द्रव्यत्वमात्रावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतया सह द्रव्यत्वमात्रावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य, घटत्वमात्रावच्छिन्नाधेयता-निरूपिताधिकरणतया सह घटत्वमात्रावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य, सत्तात्वमात्रा-वच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतया सह सत्तात्वमात्रावच्छिन्नप्रतियोगिता-

काभावस्य, विशिष्टधर्मावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतया सह विशिष्टधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य च विरोधितेत्येवंरूपेण वस्तुतान्त्रिकविरोधिता स्वीकर्तव्या । उक्तसर्वविधस्थलेष्वेवाधेयताप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धरूपेण समान एव सम्बन्धः अवश्यमेव निवेष्टव्यः ।

[सु.८७] एतादृशवैज्ञानिकविरोधिताकल्पनाया निर्दोषत्वानुरोधेनापि धर्मे प्रतियोगितावच्छेदकत्वं स्वीकार्यम् । तथाहि घटवद्भूतलम् इति बुद्धिं प्रति घटाभाववद्भूतलम इति निश्चयः प्रतिबन्धकः । एवं घटाभाववद्भूतलम् इति बुद्धिं प्रति घटवद्भूतलम् इति निश्चयः प्रतिबन्धकः । किञ्च, द्रव्यवद्भूतलम् तथा द्रव्याभाववद्भूतलम् इति ज्ञानयोः द्रव्यत्वरूपेण घटे विषयीभूतेऽपि तज्ज्ञानद्वयं यथाक्रमं घटाभाववत् भूतलम्, घटवद्भूतलम् इति ज्ञानयोः प्रतिबन्धकः प्रतिबध्यो वा न भवति । एतदेवानुभवसिद्धं शास्त्रसिद्धञ्च ।

[सु.८८] इदानीमेतादृश्यामवस्थायामुक्तभावाभावबुद्धेः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावो यद्येवं कल्प्येत यत् घटनिष्ठप्रकारतानिरूपितभूतलनिष्ठ-विशेष्यताशालिज्ञानं प्रति घटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावप्रकारतानिरूपितभूतलनिष्ठ-विशेष्यताशाली निश्चयः प्रतिबन्धकस्तथा घटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावप्रकारता-निरूपितभूतलविशेष्यताशालिबुद्धिं प्रति घटनिष्ठप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्य-ताशाली निश्चयः प्रतिबन्धकस्तर्हि द्रव्याभाववत् भूतलमिति ज्ञानं प्रति घटवद्भूतलम् इति निश्चयस्तथा घटवद्भूतलमिति ज्ञानं प्रति द्रव्याभाववत् भूतलम् इत्याकारकः निश्चयोऽपि प्रतिबन्धको भवितुमर्हति । अत एव प्रतियोगिताप्रकारतयोः अवच्छेदकमेकं धर्मं स्वीकृत्य घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितभूतलविशेष्यता-शालिबुद्धिं प्रति घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रकारतानिरूपितभूतल-विशेष्यताशाली निश्चयः प्रतिबन्धकस्तथा घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव-प्रकारतानिरूपितभूतलनिष्ठविशेष्यताशालिबुद्धिं प्रति घटत्वावच्छिन्नप्रकारता-निरूपितभूतलविशेष्यताशाली निश्चयः प्रतिबन्धक इत्येवं सिद्धान्तो गृहीतो भवति । उक्तेषु सर्वत्र स्थलेष्वेव निर्दोषतारक्षणाय प्रकारता-प्रतियोगितयोः समान एव सम्बन्धः निवेश्यः ।

[सु.८९] विशेषाभावसामान्याभावयोः वैलक्षण्यसाधनायापि प्रतियोगिता-वच्छेदकः सम्बन्धः स्वीकार्यः । घटो नास्ति इत्यादिरूपः घटत्वादि-धर्मपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगितानिरूपकोऽभावः घटादिसामान्याभावः । एवं

विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाद्यभावो विशेषाभावः । घटसामान्याभावस्य प्रतियोगिता घटत्वमात्रावच्छिन्ना अर्थात् घटत्वपर्याप्तावच्छेदकताका। घटविशेषा-भावस्य प्रतियोगिता विशेषधर्मावच्छिन्ना। प्रतियोगितात्वरूपेण घटादिप्रतियोगि-निष्ठप्रतियोगितात्वरूपेण वा ऐक्ये सत्यपि विशेषसामान्याभावीयप्रतियोगितयोः विभिन्नावच्छेदकीभूतधर्माविव सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन प्रतियोगितांशे वर्तमानौ एकस्याः प्रतियोगिताया अपरां प्रतियोगितां व्यावर्तयति पृथक् करोति वा । एतस्मादेव स धर्मः अवच्छेदको व्यावर्तको वा इत्युच्यते । मूलकारस्य व्याख्यानुसारेण स एव प्रतियोगितानियामकः ।

[सु.९०] प्रकृतप्रतियोगिनि विशेषणरूपेण प्रतीयमानः धर्म एव मूले प्रतियोगितावच्छेदकधर्मरूपेण उक्तः। यो धर्मः प्रतियोगितायाः समनियतोऽर्थात् प्रतियोगिताया व्याप्यस्तथा व्यापकः स एव प्रकृतासाधारणो धर्मः । यथा घटो नास्ति इत्यभावस्थले घटत्वरूपो धर्मः । तदेव समनियतत्वरूपम् असाधारण्यं मूले 'सर्वेषु प्रतियोगिषु वर्तमानः, तदन्यत्रावर्तमान' इत्यंशद्वारा व्यक्तम्। तस्य प्रथमांशद्वारा प्रतियोगिताया व्यापकत्वमुत्तरांशद्वारा च प्रतियोगिताया व्याप्यत्वं प्रदर्शितम्।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२३] धर्म को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने में युक्ति यह है कि - अभाव की प्रतियोगिता कहाँ रहती है और कहाँ नहीं रहती है, इसका निर्णय करने के लिये प्रतियोगिता का कोई नियामक है ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा। सभी प्रतियोगियों में वर्तमान और उससे अन्य स्थान पर अवर्तमान ऐसा प्रतियोगी में रहा हुआ कोई असाधारण धर्म ही प्रतियोगिता का नियामक होता है। जो नियामक है वही अवच्छेदक कहलाता है और जो नियमित होता है वह अवच्छिन्न कहलाता है। इस प्रकार घट में रहनेवाली घटाभाव की प्रतियोगिता कहाँ रहती है अथवा कहाँ नहीं रहती है इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जहां जहां घटत्व धर्म रहता है, वहाँ वहाँ घटाभाव की घट में रहने वाली प्रतियोगिता रहती है, अन्य किसी घटत्व धर्म से रहित स्थान में नहीं। और किसी भी घट मे उस प्रतियोगिता का अभाव नहीं होता। इस कारण से घटत्व ही घट में रहनेवाली घटाभाव की प्रतियोगिता की स्थिति का नियामक है। घटत्व

से ही घटाभाव की प्रतियोगिता नियमित होती है। अतः नियामकत्व ही अवच्छेदकत्व है और नियमितत्व ही अवच्छिन्नत्व है।

जो प्रतियोगी होता है, उस में विशेषण रूप से प्रतीत होनेवाला असाधारण धर्म ही प्रतियोगी में रही हुई प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है, ऐसा सिद्ध हुआ।

इस विषय को स्थूल रूप से इस प्रकार समझना चाहिये – प्रतियोगी को बतानेवाले विशेष्य पद के बाद 'त्व' – 'ता' आदि भाव प्रत्यय जोड़ने पर जो धर्म सिद्ध होता है वह धर्म ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। जैसे–घटाभाव का प्रतियोगी घट है। प्रतियोगी का वाचक है 'घट' पद। उसके बाद 'त्व' प्रत्यय जोडने से जो धर्म निष्पन्न होता है, वह है घटत्व जाति। वह घटत्व धर्म घट मे रहनेवाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। इस प्रकार रूपाभाव के प्रतियोगी का वाचक पद है 'रूप'। उसमें 'त्व' प्रत्यय जोड़ने से 'रूपत्व' पद सिद्ध हुआ। वह रूपत्व जाति ही रूपाभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदिका है। वैसे तो अवच्छेदकत्व और नियामकत्व दोनों एक ही हैं, फिर भी ग्रन्थकार के द्वारा अवच्छेदक पद का ही प्रयोग किया गया है, अतः अवच्छेदक शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए, नियामक शब्द का नहीं। ऐसा करने पर अप्रयुक्तता नामक दोष होगा। क्योंकि नियामक शब्द का प्रयोग ग्रन्थकार ने नहीं किया है।

वृत्तिता जैसे अधिकरणता से निरूपित होती है वैसे प्रतियोगिता भी अभाव से निरूपित होती है और अभाव प्रतियोगिता का नियामक होता है। इस प्रकार अवच्छेदकता और प्रतियोगिता का परस्पर निरूप्य–निरूपकभाव है। अवच्छेदकता से निरूपित प्रतियोगिता होती है और प्रतियोगिता से निरूपित अवच्छेदकता होती है। 'समवाय से घट नहीं है' इस वाक्य का अर्थ अब इस प्रकार होगा – 'समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न और घटत्व धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक यह अभाव है।'

[सु.८५] सम्बन्ध की तरह धर्म को भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने में प्रधान और योग्य युक्ति यह है कि – प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ अभाव की वस्तुतान्त्रिक विरोधिता अगर इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि– 'प्रतियोगी में स्थित आधेयता से निरूपित अधिकरणता के साथ अभाव की

विरोधिता है' – तो 'भूतल में द्रव्य नहीं है' इस आकारवाले अभाव के प्रतियोगी के अन्तर्गत जो घट स्वरूप द्रव्य है उस घटद्रव्य में स्थित आधेयता से निरूपित अधिकरणतावाले भूतल में 'भूतल में द्रव्य नहीं है' इस आकारवाले अभाव के प्रतियोगी 'द्रव्य' के अन्तर्गत जो पट स्वरूप द्रव्य है उस पटद्रव्य में स्थित प्रतियोगिता का निरूपक 'पट नहीं है' इस आकारवाला अभाव वृत्ति होने के कारण – 'द्रव्यादि के अभाव के साथ द्रव्यादि की अधिकरणता की विरोधिता है' – इस नियम के खण्डित होने की आपत्ति होती है।

[सु.८६] यदि (प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ अभाव की विरोधिता को) इस प्रकार कहते हैं कि – 'उस प्रतियोगी में स्थित आधेयता से निरूपित अधिकरणता की, उस प्रतियोगी में स्थित प्रतियोगिता के निरूपक अभाव के साथ ही विरोधिता है' – फिर भी सत्ता की अधिकरणता और सत्ता के अभाव की पारस्परिक विरोधिता के नियम का भङ्ग होने की आपत्ति का वारण असम्भव ही है। वह आपत्ति इस प्रकार है कि – द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता नाम की एक जाति है। वह सत्ता गुणकर्मान्यत्व से विशिष्ट सत्ता से अतिरिक्त नहीं है अर्थात् अभिन्न है। फिर भी गुण और कर्म ऊपर कही हुई शुद्ध सत्ता के अधिकरण होने पर भी 'गुणकर्मान्यत्व से विशिष्ट सत्ता नहीं है' ऐसा सत्ता स्वरूप प्रतियोगी का निरूपक अभाव गुण और कर्म में होने के कारण ऊपरोक्त नियम के भङ्ग की आपत्ति होती है तथा शुद्ध सत्ता के अधिकरण में विशिष्टसत्ता के अभाव का रहना सिद्ध हो जाता है (–जो इष्ट नहीं है।) द्रव्यत्वादि जाति और अखण्डोपाधि की अधिकरणता के साथ द्रव्यत्वादि जाति और अखण्डोपाधि के अभाव की विरोधिता की जहाँ कल्पना करते हैं वहाँ भी ऊपरोक्त रूप से दोष (आता है ऐसा) जानना चाहिए। इसी कारण से पूर्व में कहे गये सभी दोषों के निवारण के लिये प्रतियोगिता और आधेयता के विभिन्न/अवच्छेदकों को स्वीकार करके–द्रव्यत्व से अवच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता के साथ द्रव्यत्व मात्र से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की (विरोधिता है), घटत्व मात्र से अवच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता के साथ घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की (विरोधिता है), सत्तात्व मात्र से अवच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता के साथ सत्तात्व मात्र से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की (विरोधिता है) और

विशिष्टधर्म से अवच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता के साथ विशिष्टधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव की विरोधिता है – इस प्रकार वस्तुतान्त्रिक विरोधिता स्वीकार करनी चाहिये। ऊपर कहे हुए सभी प्रकार के स्थलों में आधेयता और प्रतियोगिता के अवच्छेदकसम्बन्ध के रूप में समान सम्बन्ध का अवश्य निवेश करना चाहिये।

[सु.८७] इस प्रकार की वैज्ञानिक अर्थात् ज्ञानजन्य विरोधिता की कल्पना को निर्दोष रखने के अनुरोध से भी धर्म को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना चाहिये। (धर्म को प्रतियोगिता का अवच्छेदक न मानने पर प्रतियोगी की अधिकरणता के साथ अभाव की विरोधिता की कल्पना में जो दोष आता है –) वह इस प्रकार है – 'घटवाला भूतल है' इस बुद्धि के प्रति 'घटाभाववाला भूतल है' यह निश्चय प्रतिबन्धक है तथा 'घटाभाववाला भूतल है' इस बुद्धि के प्रति 'घटवाला भूतल है' यह निश्चय प्रतिबन्धक है। किन्तु 'द्रव्यवाला भूतल है' तथा 'द्रव्याभाववाला भूतल है' इन दोनों ज्ञान में द्रव्यत्व के रूप से घट विषयीभूत होने पर भी वे दोनों ज्ञान अनुक्रम से 'घटाभाववाला भूतल है' तथा 'घटवाला भूतल है' इन दोनों ज्ञान के प्रतिबन्धक (नहीं होते हैं) अथवा इन दोनों ज्ञान से प्रतिबध्य नहीं होते हैं। यही अनुभव से सिद्ध है तथा शास्त्र से भी सिद्ध है।

[सु.८८] अब ऐसी अवस्था में ऊपरोक्त 'घटवाला भूतल है' तथा 'घटाभाववाला भूतल है' इन दोनों बुद्धि के परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना यदि इस प्रकार करते हैं कि – घट में स्थित प्रकारता से निरूपित जो भूतल में स्थित विशेष्यता तादृश विशेष्यता वाले ज्ञान के प्रति घट में रहनेवाली प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में स्थित जो प्रकारता उस प्रकारता से निरूपित ऐसी भूतल में स्थित जो विशेष्यता तादृश विशेष्यता वाला निश्चय प्रतिबन्धक है तथा घट में रहनेवाली प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में स्थित जो प्रकारता उस प्रकारता से निरूपित ऐसी भूतल में स्थित जो विशेष्यता तादृश विशेष्यतावाली बुद्धि के प्रति घट में स्थित प्रकारता से निरूपित जो भूतल में स्थित विशेष्यता तादृश विशेष्यतावाला निश्चय प्रतिबन्धक है – तो 'द्रव्याभाववाला भूतल है' इस ज्ञान के प्रति 'घटवाला भूतल है' यह निश्चय तथा 'घटवाला भूतल है' इस ज्ञान के प्रति 'द्रव्याभाववाला भूतल है' इस आकारवाला निश्चय

भी प्रतिबन्धक हो सकता है। इस कारण से ही प्रतियोगिता और प्रकारता के अवच्छेदक के रूप में किसी एक धर्म को स्वीकार करके – घटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित जो भूतल में स्थित विशेष्यता तादृश विशेष्यतावाली बुद्धि के प्रति घटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में स्थित जो प्रकारता तादृश प्रकारता से निरूपित जो भूतल में स्थित विशेष्यता तादृश विशेष्यतावाला निश्चय प्रतिबन्धक है तथा घटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव में स्थित जो प्रकारता तादृश प्रकारता से निरूपित जो भूतल में स्थित विशेष्यता तादृश विशेष्यतावाली बुद्धि के प्रति घटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित जो भूतल में स्थित विशेष्यता तादृश विशेष्यतावाला निश्चय प्रतिबन्धक है – इस प्रकार सिद्धान्त का ग्रहण होता है। कहे हुए सभी स्थलों में निर्दोषता के रक्षण के लिये प्रकारता और प्रतियोगिता में समान सम्बन्ध का ही निवेश करना चाहिये।

[सु.८९] विशेषाभाव और सामान्यभाव की (परस्पर) विलक्षणता को सिद्ध करने के लिये भी प्रतियोगिता के अवच्छेदक (के रूप में) सम्बन्ध का स्वीकार करना चाहिये। 'घट नहीं है' इस स्वरूपवाला और घटत्वधर्म की पर्याप्तिसम्बन्ध से जो अवच्छेदकता उस अवच्छेदकता की निरूपक जो प्रतियोगिता तादृश प्रतियोगिता का निरूपक जो अभाव –जो कि 'घट नहीं है' इस आकारवाला है – वह घटसामान्याभाव है। इस प्रकार विशेषधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक जो घटादि का अभाव है वह (घट का) विशेषाभाव है। घट के सामान्याभाव की जो प्रतियोगिता है वह केवल घटत्वधर्म से अवच्छिन्न है अर्थात् (वह प्रतियोगिता) घटत्वधर्म की पर्याप्ति सम्बन्ध से जो अवच्छेदकता है उस अवच्छेदकता की निरूपक है। घट के विशेषाभाव की प्रतियोगिता (तत्घटत्व, एतत्घटत्व आदि) विशेषधर्म से अवच्छिन्न है। (सामान्याभाव और विशेषाभाव की प्रतियोगिता में) प्रतियोगितात्व धर्म से अथवा घटादिप्रतियोगिनिष्ठप्रतियोगितात्व धर्म से एकता होते हुए भी विशेषाभाव और सामान्याभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक बने हुए दो अलग अलग धर्म ही सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से प्रतियोगिता में रहते हुए एक प्रतियोगिता से दूसरी प्रतियोगिता का व्यावर्तन करते है अथवा (एक

प्रतियोगिता से दूसरी प्रतियोगिता को) अलग करते है। इस (व्यावर्तन अथवा पृथक्करण स्वरूप अपने कार्य) के कारण ही उस धर्म को अवच्छेदक अथवा व्यावर्तक कहा जाता है। मूलग्रन्थकार की व्याख्या के अनुसार वह धर्म की प्रतियोगिता का नियामक है।

[सु.९०] सम्बद्ध स्थल के प्रतियोगी में विशेषण के रूप में जिस धर्म की प्रतीति होती है उस धर्म को ही मूल में प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म कहा गया है। जो धर्म प्रतियोगिता का समनियत हो अर्थात् (जो धर्म) प्रतियोगिता का व्याप्य हो और व्यापक भी हो वह धर्म ही सम्बद्ध स्थल में (प्रतियोगी का) असाधारण धर्म है।[३६] जैसे 'घट नहीं है' इस अभाव के स्थल में घटत्व स्वरूप धर्म (असाधारण धर्म है।) उस समनियतत्व स्वरूप असाधारण्य को ही मूल में – 'सभी प्रतियोगी में रहता हुआ और प्रतियोगी को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं रहता हुआ' – इस अंश के द्वारा व्यक्त किया गया है। ऊपरोक्त अंश के प्रथम खण्ड (= 'सभी प्रतियोगी में रहता हुआ') के द्वारा (प्रतियोगी के असाधारण धर्म का) प्रतियोगिता से व्यापक होना दिखाया गया है तथा द्वितीयखण्ड (= 'प्रतियोगी को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं रहता हुआ') के द्वारा (प्रतियोगी के असाधारण धर्म का) प्रतियोगिता से व्याप्य होना दिखाया गया है।

❊ टिप्पणी ❊

३६. समनियत धर्म अवच्छेदक बनता है, इसका रेखांकन –

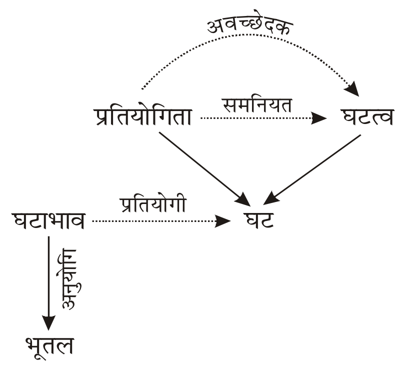

❋ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❋

[न.२४] एकस्य अभावस्य बहूनि प्रतियोगीनि सन्ति। सुतरां प्रतियोगिताः तदवच्छेदकधर्माः तदवच्छेदकसम्बन्धाश्चापि बहवो भवन्ति। तथा हि द्वितीयाभावः (घटाभावाभावः) प्रतियोगि-(घट) स्वरूपः। तृतीयाभावः (घटाभावाभावाभावः) प्रथमा-भाव -(घटाभाव) स्वरूप इति-प्रथमाभावस्य (घटाभावस्य) घट इव द्वितीयाभावोऽपि (घटाभावाभावोऽपि) प्रतियोगी । तस्मिंश्च एका अपरा प्रतियोगिता वर्तते। तस्याश्च प्रतियोगिताया अवच्छेदको धर्मः द्वितीयाभावत्वं (घटाभावाभावत्वम्) । अवच्छेदकसम्बन्धश्च स्वरूपम्। एवमन्यदपि प्रतियोगी ऊह्यम्।

❋ सुप्रभा ❋

[सु.९१] 'अभावस्याभावः प्रतियोगिस्वरूपो भवती'ति सिद्धान्तः व्याप्तिपञ्चकस्य रहस्यटीकायां मथुरानाथतर्कवागीशो विशेषयुक्त्योपपादितवान्। मूलकारस्तं सिद्धान्तमेवावलम्ब्य 'एकस्याभावस्य बहूनि प्रतियोगीनि सन्ति' इति सन्दर्भस्यावतारणमकरोत्। तं सन्दर्भमुपपादयन् मूलकारः प्रादर्शयत् यत् यतः घटाभावाभावः घटस्वरूपस्तथा घटाभावाभावस्याभावः घटाभावस्वरूप-स्तस्मात् घटाभावस्य प्रतियोगी यथा घटस्तथैव घटाभावाभावोऽपि। अत एव घटाभावरूपस्यैकस्यैवाभावस्य बहूनि प्रतियोगीनि सन्ति । परन्तु एतादृशो ग्रन्थार्थः न सङ्गतो भवति, यतः घटस्तथा घटाभावाभावः इत्यादि एकमेव वस्तु, न तु भिन्नम्। तस्मात्तयोः घटघटाभावाभावयोः प्रतियोगित्वेन प्रतियोगिबहुत्वं कथमुपपद्यते ?

[सु.९२] किञ्च, अपरमिदं वक्तव्यं यत् मूले घटाभावनिरूपितायाः प्रतियोगिताया नानात्ववर्णनाप्रसङ्गे घटाभावाभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-वच्छेदकसम्बन्धत्वेन स्वरूपसम्बन्ध उक्तः। तदपि नोपपद्यते। यतः उदाहरणत्वेन गृहीतो घटाभावः यत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः भवति घटाभावाभावस्य तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभाव एव तत्स्वरूपो भवति, न तु भिन्नसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकः । अत एव प्राथमिकेऽभावे संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वेन गृहीते उक्तघटाभावाभावस्याभावोऽपि संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको

ग्राह्यः। परन्तु स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन गृहीते तस्मिन् अभावे सोऽभावः स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको घटाभावरूपोऽतिरिक्त एव भवेन्न तु संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः।

[सु.९३] अत एव बहूनि प्रतियोगीनि इत्यंशस्य यथाश्रुतार्थं परित्यज्य बहूनि प्रतियोगीनि इत्यस्य बहुधर्मावच्छिन्नः प्रतियोगी इत्यर्थः स्वीकर्तव्यः। स चार्थः प्रकृते घटाभावीयां घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितां घटाभावाभावत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताञ्चादायैव सुसङ्गतो भवति।

[सु.९४] 'अवच्छेदकसम्बन्धश्च स्वरूपम्' इत्यंशेऽवच्छेदकसम्बन्धपदस्यापाततः प्रतीयमानं 'प्रतियोगितावच्छेदकीभूतः सम्बन्धः' इत्यर्थं परित्यज्य अवच्छेदकस्य सम्बन्धः इत्यर्थकत्वेन षष्ठीसमासनिष्पन्नेऽवच्छेदकसम्बन्धपदे तस्मिन् स्वीकृते एव प्रकृतग्रन्थस्यानुपपत्तिर्वारिता भवति, यतः प्रकृतस्थले घटनिष्ठप्रतियोगितयोः समाने एव संयोगादिसम्बन्धविशेषेऽवच्छेदकीभूतसम्बन्धे सत्यपि उक्तप्रतियोगिता भिन्नधर्मद्वयावच्छिन्ना भवति। तयोर्धर्मयोर्घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकस्य घटत्वरूपस्य सम्बन्धः समवायः। अत एव सा प्रतियोगिता घटत्वनिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिता। घटाभावाभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताया अवच्छेदकस्य घटाभावाभावत्वस्य सम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः। अत एव सा प्रतियोगिता घटाभावाभावत्वनिष्ठस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिता। अनेनैव प्रकारेण द्वे भिन्ने प्रतियोगिते उपपद्येते।

[सु.९५] 'एवमन्यदपि प्रतियोगी ऊह्यम्' इत्यत्रापि प्रतियोगिपदेन प्रतियोगिता बोध्या।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२४] एक ही अभाव के बहुत प्रतियागी होते हैं। अनेक प्रतियोगी होने के कारण सहज ही प्रतियोगिता, उसके अवच्छेदक धर्म और उसके अवच्छेदक सम्बन्ध भी अनेक होते हैं। जैसे दूसरा अभाव अर्थात् घट के अभाव का अभाव प्रतियोगी अर्थात् घट स्वरूप होता है। तीसरा अभाव यानि घट के अभाव के अभाव का अभाव पहले अभाव अर्थात् घटाभाव स्वरूप होता है। इस कारण से पहला अभाव अर्थात् घटाभाव का जैसे घट प्रतियोगी होता है उसी प्रकार दूसरा अभाव

अर्थात् घट के अभाव का अभाव भी उसका प्रतियोगी होता है और उस दूसरे अभाव में दूसरी प्रतियोगिता रहती है । उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म द्वितीयाभावत्व अर्थात् घटाभावभावत्व है । और अवच्छेदक सम्बन्ध है स्वरूपसम्बन्ध । इसी प्रकार अन्य प्रतियोगी भी जानने चाहिए ।

[सु.९१] 'अभाव का अभाव प्रतियोगीस्वरूप होता है' इस सिद्धान्त को व्याप्तिपञ्चक की रहस्यटीका में मथुरानाथ तर्कवागीश ने विशेष युक्तियों से सिद्ध किया है। मूलकार ने उस सिद्धान्त का आधार लेकर ही 'एक अभाव के अनेक प्रतियोगी होते हैं' इस सन्दर्भ को प्रकट किया है। उस सन्दर्भ को सिद्ध करते हुए मूलकार ने दिखाया है कि – घटाभावाभाव घटस्वरूप है तथा घटाभावाभाव का अभाव घटाभाव स्वरूप है इस कारण से घटाभाव का प्रतियोगी जैसे घट है वैसे ही घटाभावाभाव भी है। इस प्रकार घटाभाव स्वरूप एक ही अभाव के अनेक प्रतियोगी है। परन्तु इस प्रकार का ग्रन्थ का अर्थ सङ्गत नहीं होता है क्योंकि घट और घटाभावाभाव ये दोनों एक ही वस्तु है, किन्तु भिन्न नहीं है। अब घट और घटाभावाभाव इन दोनों के (घटाभाव के) प्रतियोगी होने से (एक अभाव के) अनेक प्रतियोगी का होना कैसे सिद्ध होता है ?

[सु.९२] और दूसरा यह भी कहना है कि मूल में घटाभाव के द्वारा निरूपित प्रतियोगिता के अनेकविधता के वर्णनप्रसङ्ग पर घटाभावाभावत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के अवच्छेदकसम्बन्ध के रूप में स्वरूपसम्बन्ध को कहा है। वह भी संगत नहीं होता है। क्योंकि उदाहरण के रूप में ग्रहण किया हुआ घटाभाव जिस सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक होता है, घटाभावाभाव का उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न (प्रतियोगिता का निरूपक) अभाव ही घटाभावस्वरूप होता है, किन्तु उससे भिन्न सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव (घटाभावस्वरूप) नहीं होता है। इस कारण से ही प्रथम अभाव (= घटाभाव) को संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक के रूप में ग्रहण करने पर घटाभावाभाव के अभाव को भी संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक के रूप में ग्रहण करना चाहिये । परन्तु घटाभावाभाव के अभाव को स्वरूपसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक के रूप में ग्रहण करने पर वह अभाव स्वरूपसम्बन्ध से अवच्छिन्न

प्रतियोगिता के निरूपक ऐसे कोई अलग घटाभाव स्वरूप ही होगा, किन्तु संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक ऐसे घटाभावस्वरूप नहीं होगा।

[सु.९३] इस कारण से ही 'बहूनि प्रतियोगिनी' इस अंश के परम्परा से सुनाई देने वाले अर्थ को छोड़कर ऊपरोक्त अंश का – अनेकधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगी – ऐसा अर्थ स्वीकार करना चाहिये और सम्बद्ध स्थल में घटाभाव की घटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता और घटाभावाभावत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता को ग्रहण करने से ही वह अर्थ सुसङ्गत होता है।

[सु.९४] 'अवच्छेदकसम्बन्धश्च स्वरूपम्' इस अंश में 'अवच्छेदक-सम्बन्ध' इस पद का प्रसङ्ग के वश से – 'प्रतियोगिता का अवच्छेदक बना हुआ सम्बन्ध' – ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। उस अर्थ को छोड़कर 'अवच्छेदक का सम्बन्ध' – इस अर्थ में षष्ठीतत्पुरुष समास के द्वारा 'अवच्छेदकसम्बन्ध' यह पद निष्पन्न हुआ है ऐसा स्वीकार करने से ही सम्बद्ध ग्रन्थ की असङ्गति का वारण हो जाता है। क्योंकि प्रकृत स्थल में घट में रहनेवाली दोनों (= घटत्वधर्म से अवच्छिन्न और घटाभावाभावत्वधर्म से अवच्छिन्न) प्रतियोगिता के संयोग आदि समान सम्बन्ध ही अवच्छेदकसम्बन्ध होने पर भी घट में रहनेवाली प्रतियोगिता दो भिन्न धर्म से अवच्छिन्न होती है। उन दो धर्म में से घटत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का अवच्छेदक जो घटत्वधर्म है उसका सम्बन्ध समवाय है। इसी कारण से वह प्रतियोगिता घटत्व में रही हुई और समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी अवच्छेदकता से निरूपित है तथा (उन दो धर्मों में से) घटाभावाभावत्वधर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का अवच्छेदक जो घटाभावाभावत्वधर्म है, उसका सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध है। इसी कारण से वह प्रतियोगिता घटाभावाभावत्वधर्म में रही हुई और स्वरूपसम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी अवच्छेदकता से निरूपित है। इसी प्रकार से दो भिन्न प्रतियोगिता सिद्ध होती है।

[सु.९५] 'एवमन्यदपि प्रतियोगी ऊह्यम्' (= इस प्रकार अन्य प्रतियोगी भी जानने चाहिये) यहाँ भी 'प्रतियोगी' – इस पद से प्रतियोगिता को जानना चाहिये।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२५] भावपदार्थवत् अभावोऽपि व्याप्यवृत्तिरव्याप्यवृत्तिश्च भवति । 'व्याप्य' सर्वमेव आधारस्यांशं कालं देशं वा अवलम्ब्य वर्तते यः, स व्याप्यवृत्तिः । कस्मिन्नपि अंशे कालविशेषे देशविशेषे वा यस्याधिकरणे अभावो नास्ति, स व्याप्यवृत्तिः । यथा – मनुष्ये मनुष्यत्वं जातिः, आकाशे रूपाभावः, शशे विषाणाभावः ।

स्वाधारेऽपि यस्याभावो वर्तते, सोऽव्याप्यवृत्तिः । यथा वृक्षे कपिसंयोगः, कपिसंयोगाभावश्च अव्याप्यवृत्तिः ।

अव्याप्यवृत्तिपदार्थस्य वृत्तितायाः कश्चित् सीमापरिच्छेदकोऽस्ति । परिच्छेदक एवात्र अवच्छेदकनाम्ना व्यवह्रियते । स च क्वचित् आधारस्य अंशविशेषः, क्वचित् कालविशेषः, क्वचिच्च देशविशेष इति । यथा 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी, न मूले' इत्यत्र वृक्षे कपिसंयोगस्य वृत्तितायाः सीमापरिच्छेदकतया शाखा अवच्छेदिका, कपिसंयोगाभावस्य तु मूलमवच्छेदकम् । 'उत्पत्तिकाले पुष्पं न गन्धवत् किन्तु तदुत्तरम्' इत्यत्र पुष्पे गन्धाभावस्य वृत्तितायामुत्पत्तिकालः अवच्छेदकः, गन्धस्य वृत्तितायान्तु उत्पत्तेरनन्तरकालः अवच्छेदकः । "वसन्ते यवा मगधे तिष्ठन्ति, न तु गिरौ" इत्यत्र वसन्ते यववृत्तितायाः मगधदेशोऽवच्छेदकः, यवाभावस्य वृत्तितायां गिरिप्रदेशोऽवच्छेदकः । अव्याप्यवृत्तिताया अवच्छेदकवाचकपदे प्रायशः सप्तमी भवति । यथा 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी, न मूले' इति प्रयोगः ।

अव्याप्यवृत्तिरभावः प्रतियोगिसमानाधिकरणो [F] भवति ।

F प्रतियोगिनः 'समानम्' एकम् अधिकरणं यस्य स प्रतियोगिसमानाधिकरणः, प्रतियोगिना सह एकत्र स्थित इति यावत् ।

यथा वृक्षे कपिसंयोगाभावः, वृक्षे कपिसंयोगः कपिसंयोगाभावश्चास्ति ।

व्याप्यवृत्तिस्तु प्रतियोगिव्यधिकरणः G, यथा-आकाशे रूपाभावः, आकाशे रूपाभाव एवास्ति, न तु रूपमिति ।

*** सुप्रभा ***

[सु.९६] अव्याप्यवृत्तिपदार्थस्यावच्छेदकीभूतो देशो द्विविधः-एकः स्वीयाधिकरणस्यैकदेशः अपरश्च तद्भिन्नदेशः । एतस्मादेव देशरूपावच्छेदकस्योदाहरणद्वयं प्रदर्शितम् ।

[सु.९७] अव्याप्यवृत्तिः कपिसंयोगाभावादिः कपिसंयोगस्याधिकरणीभूतवृक्षादिपदार्थे यथाव्याप्यवृत्तिः प्रतियोगिसमानाधिकरणश्च तथैव कपिसंयोगादिरूपप्रतियोगिनोऽनधिकरणीभूते वृक्षादौ स व्याप्यवृत्तिः प्रतियोगिव्यधिकरणश्च । एकस्मिन्नेव पदार्थे व्याप्याव्याप्यवृत्तित्वरूपौ तथा प्रतियोगिसामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यरूपौ विरूद्धधर्मौ कथं तिष्ठत ? इति प्रश्नस्य समाधानं विभिन्नसम्बन्धावलम्बनेन भवितुमर्हति । यथा कपिसंयोगाभावोऽवच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धेनाव्याप्यवृत्तिः प्रतियोगिसमानाधिकरणश्च तथा निरवच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धेन व्याप्यवृत्तिः प्रतियोगिव्यधिकरणश्च। तत्तद्धर्मयुगलस्य तद्विभिन्नसम्बन्धघटितत्वात् न परस्परं विरूद्धम् ।

[सु.९८] केचनाधिकरणभेदेनाभावभेदं स्वीकृत्य तस्य प्रश्नस्य समाधानं कुर्वन्ति । यथा कपिसंयोगादेरधिकरणे वर्तमानः कपिसंयोगाद्यभावस्तथा कपिसंयोगादेरनधिकरणे वर्तमानः कपिसंयोगाद्यभावादिर्न समानः, तौ परस्परं भिन्नौ। कपिसंयोगादेरधिकरणे वर्तमानः कपिसंयोगादेरभाव एव अव्याप्यवृत्तिः प्रतियोगिसमानाधिकरणश्च तथा कपिसंयोगादेः अनधिकरणे वृक्षादौ वर्तमानः कपिसंयोगाद्यभाव एव व्याप्यवृत्तिः प्रतियोगिव्यधिकरणश्च। अतः विरूद्धधर्मयोः एकत्र समावेशप्रसक्तिर्न भवति । अधिकरणभेदेन कपिसंयोगादेरव्याप्यवृत्तिपदार्थस्याभावभिन्नताविषयो मथुरानाथतर्कवागीशस्य व्याप्तिपञ्चकरहस्योक्तेन 'यत्र प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वप्रतियोगिव्यधिकरणत्वलक्षणविरूद्धधर्माध्यासः, तत्रैवाधिकरणभेदेनाभावभेदाभ्युपगमः, न तु सर्वत्र' इत्यंशेन समर्थितो भवति।

G प्रतियोगिनः 'वि' विरुद्धम् अधिकरणं यस्य सः, प्रतियोगिनोऽधिकरणे यो न तिष्ठति।

तस्य ग्रन्थस्यायमर्थो– यत्राधिकरणभेदेन अपि अभावस्य ऐक्ये स्वीकृते एकत्र प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वव्यधिकरणत्वरूपयोः विरूद्धधर्मयोः समावेशो प्रसज्यते तत्रैवाधिकरणभेदेनाभावो भिन्नः न तु सर्वत्र । कपिसंयोगादि–रूपाव्याप्यवृत्तिपदार्थस्य अभावस्थलमेतादृशम् ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२५] भाव पदार्थ की तरह अभाव भी व्याप्यवृत्ति और अव्याप्यवृत्ति होते हैं। आधार के सभी अंश, सभी काल और सभी देश को अवलम्बन करके जो रहता है, वह व्याप्यवृत्ति कहलाता है। अपने अधिकरण के किसी भी अंश में, किसी भी काल में और किसी भी देश में जिसका अभाव नहीं है, वह व्याप्यवृत्ति कहा जाता है। जैसे मनुष्य में मनुष्यत्व जाति, आकाश में रूप का अभाव और शश यानि खरगोश में विषाण अर्थात् शींग का अभाव व्याप्यवृत्ति है।

अपने प्रतियोगी के अधिकरण में भी जिसका अभाव रहता है, वह अव्याप्यवृत्ति कहलाता है। जैसे वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोग का अभाव दोनों अव्याप्यवृत्ति है।

अव्याप्यवृत्ति जो पदार्थ होता है, उसकी वृत्तिता का कोई न कोई सीमापरिच्छेदक होता है। परिच्छेदक का ही यहाँ अवच्छेदक नाम से व्यवहार किया जाता है। वह अवच्छेदक कहीं आधार का अंश विशेष कहीं काल विशेष और कही देशविशेष होता है। 'शाखा में वृक्ष कपि के संयोग वाला है, मूल में नहीं' यहाँ वृक्ष में कपि संयोग की वृत्तिता की सीमा परिच्छेदिका होने से शाखा ही अवच्छेदिका बनती है। कपिसंयोग के अभाव का अवच्छेदक मूल बनता है। 'उत्पत्ति काल में पुष्प गन्धवाला नहीं है, किन्तु उसके बाद गन्धवाला है।' यहाँ पुष्प में गन्ध के अभाव की वृत्तिता का अवच्छेदक उत्पत्तिकाल बनता है। 'वसंत ऋतु मे यव मगध देश मे रहते हैं, गिरि प्रदेश में नहीं' यहाँ वसंत ऋतु में यव की वृत्तिता का अवच्छेदक मगध देश है और यवाभाव की वृत्तिता का अवच्छेदक गिरिप्रदेश है। अव्याप्यवृत्तिता के अवच्छेदक का वाचक जो पद होता है उसमें प्रायः करके सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे 'अग्र भाग मे वृक्ष कपि

संयोग वाला है, मूल में नहीं' इस प्रयोग में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

जो अभाव अव्याव्यवृत्ति होता है वह अपने प्रतियोगी के समान अधिकरण में रहनेवाला होता है। जैसे वृक्ष में कपिसंयोग का अभाव प्रतियोगी के समान अधिकरणवाला है, क्योंकि वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोग का अभाव दोनों है।

जो अभाव व्याप्यवृत्ति होता है वह अपने प्रतियोगी के विरूद्ध अधिकरण में रहनेवाला होता है। जैसे आकाश में रूप का अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण है, क्योंकि आकाश में रूप का अभाव ही है, रूप नहीं।

[सु.९६] अव्याप्यवृत्ति पदार्थ का अवच्छेदक बनता हुआ देश दो प्रकार का होता है। एक – अपने अधिकरण का एक अंश स्वरूप देशविशेष और दूसरा – उससे भिन्न देशविशेष। इसी कारण से देश स्वरूप अवच्छेदक के दो उदाहरण प्रदर्शित किए गए हैं।[३७]

[सु.९७] अव्याप्यवृत्ति ऐसे कपिसंयोगाभाव आदि पदार्थ जैसे कपिसंयोग आदि अपने प्रतियोगी के अधिकरण बने हुए वृक्ष आदि पदार्थ में अव्याप्यवृत्ति और प्रतियोगीसमानाधिकरण है वैसे ही कपिसंयोग आदि अपने प्रतियोगी के अधिकरण नहीं बने हुए वृक्ष आदि पदार्थ में वह (= कपिसंयोगाभाव आदि पदार्थ) व्याप्यवृत्ति तथा प्रतियोगीव्यधिकरण है। एक ही पदार्थ में व्याप्यवृत्तित्व और अव्याप्यवृत्तित्व स्वरूप दो विरोधीधर्म तथा प्रतियोगिसामानाधिकरण्य और प्रतियोगिवैयधिकरण्य स्वरूप दो विरोधीधर्म कैसे रहते हैं? (ऐसा प्रश्न यहाँ अगर उपस्थित होता है तो –) इस प्रश्न का समाधान विभिन्न सम्बन्धों का अवलम्बन करने से हो सकता है। जैसे कपिसंयोगाभाव अवच्छिन्न स्वरूपसम्बन्ध से अव्याप्यवृत्ति और प्रतियोगीसमानाधिकरण है तथा निरवच्छिन्न स्वरूपसम्बन्ध से व्याप्यवृत्ति और प्रतियोगीव्यधिकरण है। वह दोनों युगलधर्म उन दो विभिन्न सम्बन्धों से घटित होने के कारण परस्पर विरुद्ध नहीं है।[३८]

[सु.९८] कुछ लोग अधिकरण की भिन्नता के आधार पर अभाव की भिन्नता को स्वीकार करके उस प्रश्न का समाधान करते हैं। जैसे कपिसंयोग आदि के अधिकरण में रहता हुआ कपिसंयोग आदि का अभाव तथा कपिसंयोग

आदि के अनधिकरण में रहता हुआ कपिसंयोग आदि का अभाव समान नहीं है, किन्तु ये दोनों परस्पर भिन्न है। कपिसंयोग आदि के अधिकरण में रहता हुआ कपिसंयोग आदि का अभाव ही अव्याप्यवृत्ति और प्रतियोगिसमानाधिकरण है तथा कपिसंयोग आदि के अनधिकरण स्वरूप वृक्ष आदि में रहता हुआ कपिसंयोग आदि का अभाव ही व्याप्यवृत्ति और प्रतियोगिव्यधिकरण है। इस कारण से विरुद्धधर्मों का एक जगह समावेश होने का प्रसङ्ग नहीं होता है। कपिसंयोग आदि अव्याप्यवृत्ति पदार्थ का अभाव अधिकरण की भिन्नता के आधार पर भिन्न भिन्न होता है – इस बात का समर्थन मथुरानाथतर्कवागीश कृत व्याप्तिपञ्चकरहस्य के – 'यत्र प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वप्रतियोगिव्यधिकरणत्व–लक्षणविरुद्धधर्माध्यासः, तत्रैवाधिकरणभेदेनाभावभेदाभ्युगमः, न तु सर्वत्र' — इस अंश से होता है। ऊपरोक्त ग्रन्थ का अर्थ इस प्रकार है कि – जहाँ अधिकरण के भिन्न होने पर भी (उन अधिकरणों में स्थित) अभाव की एकता को स्वीकार करने पर एक जगह प्रतियोगिसमानाधिकरणत्व प्रतियोगिव्यधिकरणत्व इन दो विरुद्धधर्मों का समावेश होने की आपत्ति आती है, वहाँ ही अधिकरण के भेद से अभाव भिन्न (माना गया) है, किन्तु सभी स्थल पर अधिकरण के भेद से अभाव भिन्न नहीं है। कपिसंयोग आदि अव्याप्यवृत्ति पदार्थ के अभाव का स्थल इस प्रकार का है।

❊ टिप्पणी ❊

३७. कपिसंयोग वृक्ष में फैलकर नहीं रहता है, केवल शाखा स्वरूप देश में ही रहता है। अतः कपिसंयोग की वृक्ष में वृत्तिता की अवच्छेदिका शाखा है। वह शाखा कपिसंयोग के अधिकरण ऐसे वृक्ष का ही एक देश है। अतः यह स्वीयाधिकरण के एक देश का दृष्टांत है। वसन्त ऋतु में यव सर्वत्र नहीं रहता है, किन्तु केवल मगधदेश में ही रहता है। अतः वसन्तऋतु में यव की वृत्तिता का अवच्छेदक मगधदेश है। यह मगधदेश यव के अधिकरण स्वरूप वसन्तऋतु का एक देश नहीं है। अतः यह स्वीयाधिकरण के एक देश से भिन्न देश का दृष्टांत है।

३८. स्वरूपसम्बन्ध के सावच्छिन्न और निरवच्छिन्न ऐसे दो भेद मानने का कारण यह है कि – कोई भी अभाव स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। किन्तु वह अभाव व्याप्यवृत्ति भी हो सकता है तथा अव्याप्यवृत्ति भी हो सकता है। जब

वृक्ष आदि में शाखा के देश में कपिसंयोग आदि का अभाव रहता है तब प्रश्न पूछा जाये कि – यह अभाव यहाँ किस सम्बन्ध से रहता है ? तो जवाब मिलता है कि – स्वरूप सम्बन्ध से । अब यहाँ पुनः एक सवाल पैदा होता है कि – स्वरूप सम्बन्ध तो पूरे वृक्ष में है फिर उस स्वरूप सम्बन्ध से रहनेवाला अभाव पूरे वृक्ष में क्यों नहीं रहता ? वह अभाव वृक्ष के शाखा से अन्य देश में भी रहना चाहिए। इस आपत्ति का वारण करने के लिए, अभाव यदि अव्याप्यवृत्ति हो तो वहाँ स्वरूपसम्बन्ध को 'सावच्छिन्न' तथा व्याप्यवृत्ति हो तो वहाँ स्वरूपसम्बन्ध को 'निरवच्छिन्न' स्वीकार किया जाता है । एक ही अभाव में दो विरोधी धर्म रहने की आपत्ति का कारण स्वरूपसम्बन्ध के इन दो भेदों की योजना से किस प्रकार होता है, यह इस टीकांश में बताया गया है ।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२६] अभावश्च पुनर्द्विविधः – अन्योन्याभावः, संसर्गाभावश्च । तादात्म्यं (तत्स्वरूपता, ऐक्यम्, अभेदः) नाम कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति । तेन सम्बन्धेन तस्य प्रतियोग्यनुयोगिनोरभेदः प्रतीयते । यथा–'सुन्दरो नर' इत्यत्र नरसुन्दरयोरैक्यं प्रतीयते । तादात्म्यसम्बन्धेन अभावः (भेदः) अन्योन्याभावः । यस्य अभावस्य प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्धेनावच्छिन्ना स अन्योन्याभाव इति । यथा–'घटो न पट' इति । ततश्च न्यायभाषायाम् अन्योन्याभावस्य 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकाभावत्वम् अन्योन्याभावत्वम्' इति लक्षणं पर्यवसितं भवति । अन्योन्याभाव एव भेदः ।

अन्योन्याभावभिन्नोऽभावः संसर्गाभावः । नञा अभावबोधने यत्र प्रतियोगिपदेऽनुयोगिपदे च प्रथमा भवति, तत्र अन्योन्याभावः प्रतीयते । यथा 'घटो न पट' इति ।

यत्र पुनः प्रतियोगिपदे प्रथमा अनुयोगिपदे च सप्तमी भवति, तत्र नञा संसर्गाभावः प्रतीयते । यथा–'भूतले घटो नास्ति' ।

स्थूलत इदमत्रावधेयम्, अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यस्य अभावः (तादात्म्याभावः, भेद इति यावत्) अन्योन्याभावः, संसर्गस्य प्रतियोगिनः सम्बन्धस्य अनुयोगिनि अभावः संसर्गाभावः । अन्योन्याभावस्थले प्रतियोग्यनुयोगिनोः घटपटयोः परस्परम् अभेदाभावः (भेदः) प्रतीयते । संसर्गाभावस्थले तु प्रतियोग्यनु-योगिनोः घटभूतलयोः सम्बन्धो नास्तीति पर्यवसाने प्रतीतिः । अत एव प्रतियोग्यनुयोगिनोरभेदेऽपि 'घटे घटो नास्ती'ति संसर्गाभावप्रतीतिः ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.९९] विश्वनाथतर्कपञ्चाननः स्वकृते कारिकावलीग्रन्थे तथा तट्टीकायां मुक्तावल्ल्यामभावस्य तादृशभेदद्वयं तथा तस्य द्विविधाभावस्य तादृशमेव लक्षणं वर्णयामास । यथा 'अभावस्तु द्विधा संसर्गन्योन्याभावभेदतः' इति (कारिका) । 'संसर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नत्वम् । अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्ब-न्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्' इति (मुक्तावली) । तस्याभावस्य विषये विशेषोऽयं ज्ञातव्यो यत् तादृशः संसर्गाभावः प्रागभावध्वंसाभावात्यन्ताभावभेदेन त्रिविधः । विश्वनाथः-

'प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥'

इति कारिकया तत् प्रकाशयामास तथा स्वकृतमुक्तावलीटीकायां तेषां त्रयाणामभावानामेव विशेषलक्षणं वर्णयामास । यथा-'विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्' इति । अस्यायमर्थः-योऽभावो विनाशी विनाशप्रतियोगी वा स प्रागभावः । अर्थात् यस्याभावस्य विनाशो विद्यते स एव प्रागभावः । प्राग् अर्थात् प्रतियोगिनः पूर्ववर्ती अभावः । तादृशोऽभावः प्रतियोगिनाश्योऽर्थात् प्रतियोगिन उत्पत्तावेव ध्वस्तः भवति । तस्याभावस्यादिर्नास्ति अर्थात् वस्तुनः (प्रतियोगिनः) पूर्ववर्तिन्यखिले काले एव स तिष्ठति । एतस्मादेव तर्कसङ्ग्रह-कारोऽन्नम्भट्टः 'अनादिः सान्तः प्रागभावः' इत्येवंरूपेण तस्य स्वरूपं वर्णयामास । अर्थात् यस्याभावस्यादिर्नास्ति किन्तु ध्वंसो वर्तते स प्रागभावः ।

वस्तुतस्तु प्रागभावः प्रतियोगिनाश्य इत्युक्ते उत्पन्नप्रतियोगिन उत्पत्तिप्रसङ्गो भवति । अत एव स प्रतियोगिसामग्रिनाश्य इत्युच्यते । प्रतियोगिन उत्पत्तेः पूर्वक्षणे तत्सामग्रिसम्वलितः सन् स वर्तते । प्रागभावः प्रतियोगिनः कारणम् । अतः अस्मिन् कल्पे प्रतियोगिन उत्पत्तिक्षणे प्रागभावरूपस्य कारणस्या-विद्यमानत्वात् पूर्वोक्तप्रसङ्गः न भवति । प्रागभावस्थले प्रतियोगिनः भविष्यत्व-बोधको 'घटो भविष्यति' इत्यादिरूपः प्रयोगो भवति ।

[सु.१००] मुक्तावलीनिरुक्तं ध्वंसाभावस्य लक्षणं हि जन्याभावत्वम् इति । योऽभावः केनचित् कारणेन जन्योऽर्थात् यस्याभावस्य किञ्चित्कारणा-धीनोत्पत्तिर्घटते सोऽभाव एव ध्वंसाभाव इत्युच्यते । यथा दण्डेन घटो नष्ट इत्यादिप्रतीतिस्थलीयघटनाशादिरूपोऽभावः । तस्य ध्वंसाभावस्यादिरुत्पत्ति-र्वास्ति । किन्तु अन्तः ध्वंसो वा नास्ति । एतस्मादेव तर्कसङ्ग्रहकारः 'सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः' इत्येवंरूपेण तस्य स्वरूपं निर्दिष्टवान् । मुक्तावली-निरुक्तं अत्यन्ताभावस्य लक्षणं हि नित्यसंसर्गाभावत्वम् इति । त्रिषु संसर्गाभावेषु प्रागभावस्योत्पत्त्यभावेऽपि ध्वंसो विद्यते तथा ध्वंसाभावस्य ध्वंसाभावेऽपि उत्पत्तिर्विद्यते । अत एवोत्पत्तिरहितत्वे सति विनाशरहितत्वरूपस्य प्रागभावा-प्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपस्य नित्यत्वस्य द्वयोरभावयोः कुत्राप्य-विद्यमानत्वात् प्रागभावध्वंसाभावयोः तल्लक्षणस्य नातिव्याप्तिर्भवति । अत्रेयमाशङ्का अवश्यमेव भवितुमर्हति यत्–अत्यन्ताभावो यदि नित्यो भवति तर्हि गृहाद् घटोऽपसारितः, तस्मिन्नेव गृहे घटापसारणात् परं घटाभावो व्यापकतया तिष्ठतीति सम्मतम् । किन्तु, तस्मिन् गृहे यदि पुनः घट आनीतो भवति तदापि तस्मिन् गृहे पूर्ववत् घटाभावस्तिष्ठतीति स्वीकार्यम्, यतः सोऽभावो यथा नित्यस्तथैव निष्क्रियोऽचेतनश्च । अतस्तस्मिन् गृहे घटसत्त्वकालेऽपि पूर्ववत् व्यापकरूपेण घटाभावस्य सत्त्वात् घटतदभावयोः वस्तुतान्त्रिकविरोधिता विलुप्ता भवति । तेन च घटवत्तातदभाववत्ताज्ञानयोः चिरसिद्धा विषयविरोधमूलिका वैज्ञानिकी विरोधितापि असम्भविनी भवति तथा तस्मिन् गृहे घटानयनानन्तरमपि तत्र घटाभावविषयकप्रमात्मकज्ञानस्यापत्तिर्भवति । एतेषां दोषाणां समाधाना-यैतत्कल्प्यते यत्–साधारणस्वरूपसम्बन्धस्तदत्यन्ताभावस्य न वृत्तितानियामक-सम्बन्धः, किन्तु प्रतियोगिनस्तत्तदधिकरणे असत्त्वकालीनभूतलादिरूपः स्वरूप-सम्बन्ध एवात्यन्ताभावस्य वृत्तितानियामकः सम्बन्धः । गृहे घटस्य सत्ताकाले

घटरूपप्रतियोगिनो गृहासत्त्वकालरूपस्य कालविशेषस्य अभावादेव तत्कालीन-स्वरूपसम्बन्धस्य गृहेऽविद्यमानत्वात् तत्सम्बन्धेन तत्रात्यन्ताभावस्याविद्यमान-त्वात् दोषगणः निवारितो भवति । तस्य सम्बन्धविशेषस्योल्लेखः विश्वनाथेन सिद्धान्तमूक्तावलीटीकायां कृतः । यथा-'एवञ्च तत्तत्कालीनं तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः' इति । परमपि घटकाले गृहादौ घटात्यन्ताभाव-ज्ञानाशङ्कावारणायोक्तवान् यत्- "यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतञ्च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकत्वात् अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः" इति । अयमर्थः-यस्मिन् भूतलाद्यधिकरणे पूर्ववर्तिनो घटस्यापसारणात् परं पुनः घटादिपदार्थ आनीतो भवति, तदा तस्मिन् भूतलाद्यधिकरणे घटसत्ताकालः घटात्यन्ताभावस्य वृत्तितानियामकसम्बन्धस्य घटको न भवति । अस्मात् अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न तत्र घटात्यन्ताभावबुद्धिर्भवति ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२६] अभाव के दो प्रकार हैं, पहला अन्योन्याभाव और दूसरा संसर्गाभाव । तादात्म्य नाम का एक सम्बन्ध है, जिसका अर्थ होता है तत्स्वरूप होना, ऐक्य या अभेद होना । उस सम्बन्ध से उसके प्रतियोगी और अनुयोगी का अभेद प्रतीत होता है । जैसे 'सुन्दर मनुष्य है' यहाँ मनुष्य और सुन्दर का ऐक्य प्रतीत होता है । तादात्म्य सम्बन्ध से जो अभाव होता है उसे अन्योन्याभाव कहते है । अर्थात् जिस अभाव की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है वह अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है । जैसे 'घट पट नहीं है ।' न्याय की भाषा में अन्योयाभाव का लक्षण इस प्रकार होगा 'तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक जो अभाव वह अन्योन्याभाव है ।' अन्योन्याभाव को ही 'भेद' कहा जाता है ।

अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव हो वह संसर्गाभाव है । 'नञ्' से अभाव का ज्ञान करने मे जहां प्रतियोगिपद और अनुयोगिपद दोनों में प्रथमा विभक्ति हो, वहाँ अन्योन्याभाव की प्रतीति होती है । जैसे - घट पट नहीं है ।

जहां प्रतियोगिपद में प्रथमा विभक्ति और अनुयोगिपद में सप्तमी विभक्ति हो, वहाँ 'नञ्' से संसर्गाभाव प्रतीत होता है। जैसे भूतल पर घट नही है।

स्थूल रूप से यहाँ ऐसा जानना चाहिये - अन्य अन्य पदार्थ मे अन्य अन्य पदार्थ के तादात्म्य का अभाव ही भेद अर्थात् अन्योन्याभाव कहा जाता है। संसर्ग अर्थात् प्रतियोगी के सम्बन्ध का अनुयोगी में अभाव होना संसर्गाभाव कहा जाता है। अन्योन्याभाव के स्थल में प्रतियोगी और अनुयोगी स्वरूप घट और पट में परस्पर अभेद का अभाव अर्थात् भेद प्रतीत होता है। संसर्गाभाव के स्थल में प्रतियोगी और अनुयोगी स्वरूप घट और भूतल में सम्बन्ध नहीं है ऐसी प्रतीति होती है। इसी कारण से प्रतियोगी और अनुयोगी का अभेद होने पर भी 'घट में घट नहीं है' ऐसी संसर्गाभाव की प्रतीति होती है।

[सु.९९] विश्वनाथतर्कपञ्चानन ने अपने कारिकावली नाम के ग्रन्थ में तथा उसकी मुक्तावली नाम की टीका में अभाव के (जिस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में बताये हैं –) उसी प्रकार के दो भेद (बताये हैं) तथा उन दो प्रकार के अभाव का (जैसा प्रस्तुत ग्रन्थ में बताया गया है–) वैसा ही लक्षण बताया है। जैसे (अभाव के दो भेदों को बताते हुए उन्होंने कारिका में कहा है कि–) 'संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद से अभाव दो प्रकार का है।' (और उन दोनों अभाव का लक्षण बताते हुए मुक्तावलीटीका में कहा है कि–) 'अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव होता है उसे संसर्गाभाव कहा जाता है। तादात्म्यसम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी प्रतियोगिता का निरूपक जो अभाव होता है उसे अन्योन्याभाव कहा जाता है।' उस अभाव के विषय में यह विशेष बात जानने योग्य है कि उस प्रकार का (= अन्योन्याभाव से भिन्न ऐसा) (जो) संसर्गाभाव (है वह) प्रागभाव, ध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव के भेद से तीन प्रकार का है। विश्वनाथ ने इस विषय को 'प्रागभाव, ध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव इस प्रकार त्रिविधता को प्राप्त संसर्गाभाव स्वीकार किया जाता है' - इस कारिका के द्वारा प्रकट किया है तथा अपनी मुक्तावली नामक टीका में उन तीनों अभावों के विशेष लक्षणों का वर्णन किया है। जैसे - 'विनाशी अभाव प्रागभाव है।' इसका अर्थ इस प्रकार है कि जो अभाव विनाशी अथवा विनाश का प्रतियोगी होता है वह प्रागभाव है।

अर्थात् जिस अभाव का विनाश होता है वह अभाव ही प्रागभाव है। प्राग् अर्थात् प्रतियोगी के पूर्व में रहनेवाला ऐसा अभाव (वह प्रागभाव है ।) वह अभाव प्रतियोगिनाश्य (प्रतियोगी के द्वारा नष्ट होने वाला) है अर्थात् वह प्रागभाव प्रतियोगी के उत्पत्तिकाल में ही नष्ट होता है । उस प्रागभाव की आदि नहीं है अर्थात् प्रतियोगी वस्तु के पूर्व के समग्र काल में वह रहता है। इस कारण से ही तर्कसङ्ग्रह के कर्त्ता अन्नम्भट ने 'अनादि सान्त प्रागभाव है' – इस प्रकार प्रागभाव के स्वरूप का वर्णन किया है। (ऊपरोक्त अन्नम्भट्ट कृत लक्षण का–) यह अर्थ है कि जिस अभाव की आदि नहीं है किन्तु ध्वंस विद्यमान है वह प्रागभाव है। वास्तव में प्रागभाव प्रतियोगिनाश्य है ऐसा कहने पर उत्पन्न ऐसे प्रतियोगी की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होता है ।[३९] इस कारण से ही प्रागभाव को प्रतियोगिसामग्रिनाश्य (= प्रतियोगी की सामग्री के द्वारा नष्ट होने वाला) कहा जाता है। प्रतियोगी की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में प्रतियोगी की सामग्री से संयुक्त होकर वह प्रागभाव रहता है। प्रागभाव प्रतियोगी (की उत्पत्ति) का कारण है। इस कारण से (प्रागभाव प्रतियोगिसामग्रिनाश्य है–) इस कल्प में प्रतियोगी की उत्पत्ति के समय प्रागभाव स्वरूप कारण के विद्यमान नहीं होने के कारण पूर्व में कहा गया (उत्पन्न ऐसे प्रतियोगी की उत्पत्ति का) प्रसङ्ग नहीं होता है। प्रागभाव के स्थल में प्रतियोगी की भविष्यकालीन उत्पत्ति को बतानेवाला 'घट होगा' इस प्रकार का प्रयोग होता है।

[सु.१००] मुक्तावली में कहा गया ध्वंसाभाव का लक्षण –'जन्य अभाव (ध्वंसाभाव) है' – इस प्रकार है। जो अभाव किसी कारण से जन्य है अर्थात् जिस अभाव की किसी कारण के अधीन उत्पत्ति घटित होती हैं उस अभाव को ही ध्वंसाभाव कहा जाता है। उस ध्वंसाभाव की आदि अथवा उत्पत्ति हैं किन्तु अन्त अथवा ध्वंस नहीं हैं। इस कारण से ही तर्कसङ्ग्रहकार ने 'सादि और अनन्त प्रध्वंसाभाव होता है' – इस प्रकार प्रध्वंसाभाव के स्वरूप का निर्देश किया है। मुक्तावली में कहा गया अत्यान्ताभाव का लक्षण 'नित्य संसर्गाभाव अत्यन्ताभाव हैं' – इस प्रकार हैं। तीनों संसर्गाभाव में प्रागभाव की उत्पत्ति न होने पर भी उसका ध्वंस तो होता ही है तथा ध्वंसाभाव का ध्वंस न होने पर भी उसकी उत्पत्ति होती है । इस कारण से 'उत्पत्ति रहित होते हुए विनाश रहित होना अथवा प्रागभाव का अप्रतियोगी होते हुए ध्वंस का अप्रतियोगी होना' –

ऐसे स्वरूपवाला नित्यत्व प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों में से कहीं भी नहीं रहने के कारण प्रागभाव और ध्वंसाभाव में अत्यन्ताभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती हैं। यहाँ यह शङ्का अवश्य ही हो सकती है कि – यदि अत्यन्ताभाव नित्य होता है तो (जब) घर से घट को हटाया गया (तब) उसी घर में घट को हटाने के बाद घटाभाव व्यापक रूप से रहता है – यह बात सम्मत है। किन्तु उस घर में यदि वापस घट लाया जाये, तब भी उस घर में पूर्व की तरह व्यापक रूप से घटाभाव रहता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि वह अत्यन्ताभाव जैसे नित्य है वैसे ही निष्क्रिय और अचेतन है। अब उस घर में घट की सत्ता के काल में भी पूर्व की तरह व्यापक रूप से घटाभाव होने कारण घट और घटाभाव की जो वस्तुतान्त्रिकविरोधिता है वह विलुप्त हो जाती है और ऐसा होने पर घटवत्ताज्ञान और घटाभाववत्ताज्ञान की लम्बे काल से सिद्ध और अपने विषयों के विरोध से पैदा हुई वैज्ञानिक विरोधिता असम्भव होती है और उस घर में घट को लाने के बाद भी वहाँ घटाभावविषयक प्रमास्वरूप ज्ञान की आपत्ति होती है।[४०] इन दोषों के समाधान के लिये यह कल्पना की जाती है कि – सामान्य स्वरूपसम्बन्ध उस अत्यन्ताभाव का वृत्तितानियामकसम्बन्ध नहीं है, किन्तु प्रतियोगी जब उस उस अधिकरण में विद्यमान नहीं होता है तत्कालीन भूतल आदि रूप स्वरूपसम्बन्ध ही अत्यन्ताभाव का वृत्तितानियामक सम्बन्ध है। जब घर में घट विद्यमान होता है उस काल में, जिस समय घर में घट स्वरूप प्रतियोगी वस्तु विद्यमान नहीं होती है उस काल का अभाव होने से तत्कालीन स्वरूपसम्बन्ध विद्यमान नहीं होता है और जब वहाँ तत्कालीन स्वरूपसम्बन्ध ही नहीं है तो उस सम्बन्ध से वहाँ अत्यन्ताभाव भी नहीं रहता है। इस प्रकार ऊपरोक्त दोष का निवारण होता है। उस सम्बन्धविशेष का उल्लेख विश्वनाथ ने सिद्धान्तमुक्तावली टीका में किया है। जैसे– 'इस प्रकार उस काल सम्बन्धी वे भूतलादि (अधिकरण ही) उन अभावों का सम्बन्ध है।' बाद में भी (विश्वनाथ ने) घट की विद्यमानता के समय में घटात्यन्ताभाव का ज्ञान होने की आशङ्का का वारण करने के लिए कहा है कि – 'जहाँ भूतल आदि में घटादि का अपसारण किया गया और फिर वापस लाया गया वहाँ घट की विद्यमानता का जो काल है वह सम्बन्ध का घटक नहीं होने के कारण अत्यन्ताभाव नित्य होते हुए भी घट की विद्यमानता के काल में घट के अत्यन्ताभाव की बुद्धि नहीं होती है।' इसका अर्थ यह है कि – जिस भूतलादि

अधिकरण में पूर्ववर्ती घट को हटा देने के बाद घटादि पदार्थ को वापस लाया गया हो। तब उस भूतलादि अधिकरण में घट की सत्ता का काल घटात्यन्ताभाव के वृत्तितानियामकसम्बन्ध का घटक नहीं होता है। इस कारण से अत्यन्ताभाव नित्य होते हुए भी घट की सत्ता के काल में वहाँ घट के अत्यन्ताभाव की बुद्धि नहीं होती है।

❊ टिप्पणी ❊

३९. प्रागभाव को यदि 'प्रतियोगिनाश्य' अर्थात् प्रतियोगी के द्वारा नाश करने योग्य मानते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वप्रथम क्षण में प्रतियोगी हाजर होगा तब द्वितीय क्षण में प्रागभाव नष्ट होगा और फलस्वरूप प्रतियोगी वस्तु पैदा होगी। इस प्रकार इस मत में उत्पन्न हो चुके प्रतियोगी की पुनः उत्पत्ति का प्रसंग आता है। अतः प्रागभाव को 'प्रतियोगिसामग्रिनाश्य' अर्थात् प्रतियोगी की सामग्री के द्वारा नाश करने योग्य माना जाता है। इस मत में प्रतियोगी की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में प्रागभाव भी रहता है तथा प्रतियोगी की सामग्री भी रहती है। उसके बाद के क्षण में प्रागभाव का नाश होता है तथा प्रतियोगी की भी उत्पत्ति होती है। इस मत में प्रतियोगी की उत्पत्ति पहले थी ही नहीं अतः उत्पन्न प्रतियोगी की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता है।

४०. परस्पर विरोधी दो पदार्थों का कभी भी एक-दूसरे के साथ नहीं रहना ही 'वस्तुतान्त्रिक विरोधिता' कहा जाता है। प्रस्तुत स्थल में घट तथा घटात्यन्ताभाव के एक जगह रहने से वस्तुतान्त्रिक विरोधिता का खण्डन होता है। इस प्रकार के दो विरोधी पदार्थों का एक जगह ज्ञान भी नहीं हो सकता है। इसे ही 'वैज्ञानिकी विरोधिता' कहा जाता है। यह विरोधिता ज्ञान के विषय बने हुए पदार्थों की विरोधिता के आधार पर तय होती है।

घट और घटाभाव परस्पर विरोधी होने के कारण उन दोनों के ज्ञान में वैज्ञानिकी विरोधिता मानी जाती है। प्रस्तुत स्थल में अत्यन्ताभाव के नित्य होने के कारण घट वाले भूतल में भी घटात्यन्ताभाव का ज्ञान होने की आपत्ति होती है। इससे वैज्ञानिकी विरोधिता का खण्डन होता है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२७] प्रतियोगितावत् अवच्छेदकता-साध्यता-कार्यता-

विधेयता-हेतुता-कारणता-प्रकारतादयोऽपि धर्मगताः सापेक्ष-धर्माः केनचिद्धर्मेण केनचिच्च सम्बन्धेन अवच्छिन्ना भवन्ति । अत्र वृत्तिता-प्रतियोगितास्थलीययुक्तिरिव युक्तिः स्वयमुद्-भावनीया । तत्र कियन्ति उदाहरणानि दर्शयामि । अवच्छेदके विशेषणीभूतो धर्मोऽवच्छेदकताया अवच्छेदको भवति । अवच्छेदके विशेषणीभूतो धर्मो येन सम्बन्धेन तिष्ठति, स सम्बन्धोऽवच्छेदकतावच्छेदकः सम्बन्धो भवति । यथा-'दण्डी नास्ति' इत्यत्र दण्डिनि प्रतियोगिनि विशेषणतया उपस्थितो दण्डो दण्डिगतप्रतियोगिताया अवच्छेदकः, दण्डश्च दण्डिनि संयोगसम्बन्धेन तिष्ठतीति दण्डगता प्रतियोगितावच्छेदकता संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना । दण्डे च दण्डत्वं विशेषणतया उपस्थितमिति दण्डगतायाः प्रतियोगितावच्छेदकताया अवच्छेदकं दण्डत्वम् । दण्डत्वञ्च दण्डे समवायसम्बन्धेन तिष्ठतीति दण्डत्वगता अवच्छेदकता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना । दण्डत्वे च किमपि विशेषणतया न प्रतीयत इति दण्डत्वगता अवच्छेदकतावच्छेदकता निरवच्छिन्ना । ततश्च 'दण्डी नास्ति' इत्यस्य नैयायिकभाषायामयमर्थः—'समवायसम्बन्धावच्छिन्न-दण्डत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नदण्ड-निष्ठावच्छेदकतानिरूपितसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नदण्डिनिष्ठप्रति-योगितानिरूपकोऽभावः ।

येन सम्बन्धेन यत् साध्यते, यत् क्रियते, यत् विधीयते, यो हेतुः, यत् कारणम्, यश्च प्रकारो भवति, स सम्बन्धः तन्निष्ठ-साध्यता-कार्यता-विधेयता-हेतुता-कारणता-प्रकारतानाम-वच्छेदको भवति । 'सुन्दरो नर' इत्यादौ नरस्य धर्मिणः केवलं विशेष्यतयैव प्रतीतिः, तस्य सम्बन्धो न कुत्रापि बोध्यते इति धर्मिगता अधिकरणता-अनुयोगिता-विशेष्यता-पक्षतादयः

सापेक्षधर्माः न केनापि सम्बन्धेन अवच्छिन्नाः, केवलं धर्मेणैव तेऽवच्छिन्ना इति ।

यो धर्म साध्यादौ विशेषणतया प्रतीयते स धर्मः साध्यतादीनामवच्छेदको भवति । यथा–'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यत्रानुमाने पर्वते पक्षे धूमेन हेतुना वह्निः संयोगसम्बन्धेन साध्यते [H] इति यथाक्रमं पर्वतत्वं पक्षतावच्छेदकं, धूमत्वं हेतुतावच्छेदकं, वह्नित्वं साध्यतावच्छेदकम् । संयोगश्च साध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः । हेतुरपि संयोगसम्बन्धेनैव कृत इति हेतुतावच्छेदकसम्बन्धोऽपि संयोग एव ।

यत्र च साध्यतावच्छेदको धर्मः सखण्डः, तत्र साध्यतावच्छेदकतावच्छदकोऽप्यस्ति । यथा–'शतायुरप्ययं वृद्धो मरिष्यति मनुष्यत्वात्' इत्यनुमाने मरणं साध्यम्, मरणत्वञ्च साध्यतावच्छेदकम् । मरणञ्च श्वासप्रश्वासयोर्विरामः इति श्वासप्रश्वासविरामत्वरूपं मरणत्वं सखण्डोपाधिः धर्मः । ततश्च मरणत्वत्वेन धर्मेण मरणत्वमत्र विशेषणीभूतमिति मरणत्वत्वं साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकम् । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

अवच्छेदकपदस्य क्वचिद् विशेषणमित्यर्थः । अवच्छिन्नपदस्य च विशिष्टम् आश्रय इत्यर्थोऽपि भवति । यथा–'अवच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः' इत्यत्र अवच्छेदकत्वपदस्य विशेषणत्वमर्थः । 'वह्नित्वावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचिद्' इत्यत्र 'वह्नित्वावच्छिन्नस्य' इत्येतत्पदस्य 'वह्नित्वाश्रयस्य' इत्यर्थो बोध्यते ।

H यस्मिन् अनुमीयते स पक्षः, यत् अनुमीयते तत् साध्यं, येन च साधनेन (ज्ञापकेन) अनुमीयते स हेतुरित्युच्यते । साध्यस्य 'लिङ्गि' इति नामान्तरं । हेतोश्च 'साधनम्' इति 'लिङ्गम्' इति च नामान्तरम् ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.१०१] मूले साध्यतापदस्यार्थः साध्यपदार्थगतानुमितिनिरूपिता विधेयत्वाख्यविषयता। विधेयतापदस्य साधारणोऽर्थः उद्देश्यविधेयभावस्थलीया विधेयता। अनुमितिविधेयता हि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादिन्यायस्थलीया वह्न्यादिरूपसाध्यगतविधेयत्वाख्यविषयता । उद्देश्यविधेयभावस्थलीया साधारणविधेयता यथा– धनवान् सुखी इत्यादिस्थलीया सुखादिपदार्थगता विधेयता। सा च सुखत्वादिधर्मावच्छिन्ना समवायादिसम्बन्धावच्छिन्ना च । तादृशं स्वरूपभेदमवलम्ब्यैव साध्यता विधेयता चेति भिन्नरूपेणोल्लिख्यते।

[सु.१०२] कार्यताकारणतयोरुदाहरणं यथा ''संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिमत्त्वसम्बन्धेन घटादिपदार्थं प्रति स्वजन्यभ्रमिमत्त्वादिसम्बन्धेन दण्डादिकारणम्। तत्र घटादिपदार्थे कार्यता दण्डादिपदार्थे च कारणता वर्तते। तस्याः कार्यताया अवच्छेदको धर्मः घटत्वादिः, अवच्छेदकसम्बन्धश्च संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिमत्त्वम् । अत एवोक्ता कार्यता घटत्वादिधर्मावच्छिन्ना प्रोक्तरूपोत्पत्तिमत्त्वसम्बन्धावच्छिन्ना च। प्रोक्तस्थलीयायाः कारणताया अवच्छेदको धर्मः दण्डत्वादिः, अवच्छेदकसम्बन्धश्च स्वजन्यभ्रमिमत्त्वादिः । अत एव सा दण्डत्वादिधर्मावच्छिन्ना स्वजन्यभ्रमिमत्त्वसम्बन्धावच्छिन्ना च।

[सु.१०३] प्रकारता हि ज्ञानादौ कस्मिंश्चित् पदार्थांशे विशेषणरूपेण भासमानो वस्तुगतो विषयताविशेषः । यथा–'संयोगेन घटवद्भूतलम्' इति ज्ञानस्थले भूतलरूपविशेष्यांशे घटः विशेषणरूपेण भासमानः । अत एव घटे सा ज्ञानीयप्रकारताख्या विषयता वर्तते। सा च प्रकारता घटत्वरूपधर्मावच्छिन्ना संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना च।

[सु.१०४] 'अवच्छेदके विशेषणीभूतो धर्मः' इत्यस्यार्थः अवच्छेदकांशे विशेषणरूपेण प्रतीयमानो धर्म इत्यवधेयम्। अन्यथा वह्निमान् धूमात् इत्यादिस्थले वह्न्यादिरूपसाध्यपदार्थे वह्नित्वविशिष्टत्वस्येव तेजस्त्वविशिष्टत्वस्य सत्त्वात् तेजस्त्वादिधर्मेऽपि अवच्छेदकताया आपत्तिर्भवति । 'विशेषणीभूत' इति पदे च्विप्रत्ययेनैव तादृशो विशेषार्थः सूचित इति वक्तुं शक्यते । 'दण्डश्च दण्डिनि संयोगसम्बन्धेन तिष्ठतीति' इत्यादौ परवर्तिनि सन्दर्भेऽपि 'तिष्ठति' पदस्यार्थोऽपि 'भासते' इत्येवं ज्ञातव्यम् । अन्यथा समवायादिसम्बन्धेन दण्ड्यंशे

दण्डादिज्ञानस्थलीयायां दण्डी नास्ति इत्यादौ प्रतीतौ दण्डादेरवच्छेदकत्वं तद्द्वारा न समर्थितं भवति।

[सु.१०५] अनुल्लिख्यमानजातेरखण्डोपाधेश्च स्वरूपतः (निष्प्रकारकं) भानं भवतीति पूर्वमेव विस्तृतरूपेण प्रतिपादितम्। अत एव दण्डी नास्ति इत्येतादृशप्रतीतौ दण्डत्वस्यानुल्लिख्यमानजातित्वनिबन्धनं स्वरूपतः भानं भवति। अतः प्रकृते तद्गतावच्छेदकता निरवच्छिन्ना। अत्र निरवच्छिन्नपदस्यार्थः न सामान्यतोऽवच्छिन्नताशून्यत्वं किञ्चिन्निष्ठावच्छेकताऽनिरूपकत्वं वा, यत उक्तदण्डत्वनिष्ठावच्छेदकता केनचिद्धर्मेणानवच्छिन्ना अपि समवायरूप-सम्बन्धेनावच्छिन्ना भवति। अत एव निरवच्छिन्नपदस्यार्थः किञ्चिद्धर्मान-वच्छिन्नत्वं किञ्चिद्धर्मनिष्ठविलक्षणावच्छेदकत्वानिरूपकत्वं वा। उक्तधर्मनिष्ठा-वच्छेकताया वैलक्षण्यं हि संसर्गावच्छिन्नत्वम्। अत एव सम्बन्धस्य किञ्चिद्धर्म-स्वरूपत्वेऽपि 'सम्बन्धगता सांसर्गिकी अवच्छेदकता सम्बन्धानवच्छिन्ना' इति नियमात्तत्र तद्वैलक्षण्यस्य नातिव्याप्तिर्भवति।

[सु.१०६] क्वचित् क्वचित् वृत्तिताया अवच्छेदकसम्बन्धं स्वीकृत्या-धिकरणतायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वव्यवहारो दृश्यते। यथा-सिद्धान्तलक्षण-जागदीश्यां 'यत्प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतानिरूपितस्वरूप-सम्बन्धेन' इत्यादि। तत्र सर्वेषु स्थलेषु तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतापद-स्यार्थः तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणतेति। अधिकरणतायां विशेष्यतायाञ्च सम्बन्धावच्छिन्नत्वस्वीकाराद्दोषः 'न्यायपरिभाषा' ग्रन्थे द्रष्टव्यः।

[सु.१०७] अधिकरणतायाः साक्षात्कस्यचिदवच्छेदकसम्बन्धस्यासत्त्वे-ऽपि क्वचित् क्वचित् स्वनिरूपितवृत्तिताया अवच्छेदकसम्बन्धमादाय 'संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणता' इत्यादिरूपो व्यवहारः भवति।

[सु.१०८] सखण्डधर्मस्य प्रतीतिस्तदंशे निष्प्रकारिका न भवति, सप्रकारिकैव भवति। अस्मादेव मरणत्वरूपधर्मांशे मरणत्वत्वरूपधर्मः प्रकाररूपेण भासते। 'एवमन्यदपि' इत्यत्रान्यपदेन दण्डिमान् दण्डिसंयोगात् इत्यादिस्थलीयदण्डत्वादिरूपं साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं बोद्धव्यम्।

[सु.१०९] वह्नित्वविशिष्टस्य वह्नित्वाश्रयस्य वा समार्थकत्वेन जगदीशः सिद्धान्तलक्षणदीधितिटीकायां वह्नित्वावच्छिन्नपदस्य प्रयोगं कृतवान्। यथा 'वह्नित्वावच्छिन्नस्य सर्वस्यैव धूमादिमन्निष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकी-

भूततत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नत्वादव्याप्तिरिति' इति। अर्थात् वह्नित्वाश्रयस्य वह्नित्व-विशिष्टाया अखिलवह्निव्यक्तेरेव धूमरूपहेतोरधिकरणे वर्तमानस्य 'तद्व्यक्ति-र्नास्ति' 'एतद्व्यक्तिर्नास्ति' इत्यादिरूपस्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकतत्तद्-व्यक्तित्वाद्यवच्छिन्नत्वात् अव्याप्तिभर्वति, यतः तादृशाभावस्य प्रतियोगितावच्छेद-कावच्छिन्नभिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यमेव सिद्धान्तलक्षणस्य यथाश्रुतं मूलोक्ता व्याप्तिः ।

✲ अनुवाद ✲

[नव्य.२७] प्रतियोगिता की तरह अवच्छेदकता, साध्यता, कार्यता, विधेयता, हेतुता, कारणता, प्रकारता आदि सापेक्ष धर्म भी किसी धर्म से और किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न होते है। यहाँ वृत्तिता-प्रतियोगिता के स्थल में बताई गई युक्ति स्वयं जाननी चाहिए। (देखिये मूलग्रन्थ क्रमांक २२ एवं २३) वहाँ कितने उदाहरण दिखाऊँ। अवच्छेदक में जो धर्म विशेषण बनता है, वह अवच्छेदकता का अवच्छेदक होता है। अवच्छेदक में विशेषण रूप में रहा धर्म जिस सम्बन्ध से रहता है, वह सम्बन्ध अवच्छेदकता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। जैसे – 'दण्डी नहीं है' यहाँ दण्डी रूप प्रतियोगी में विशेषण रूप से उपस्थित दण्ड, दण्डी में रहनेवाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। दण्ड दण्डी में संयोग सम्बन्ध से रहता है, इस कारण के दण्ड में रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न है। दण्ड में दण्डत्व विशेषणरूप से उपस्थित होता है, इस कारण से दण्ड में रहती हुई प्रतियोगितावच्छेदकता का अवच्छेदक दण्डत्व है। दण्डत्व दण्ड में समवायसम्बन्ध से रहता है। इस कारण से दण्डत्व में जो अवच्छेदकता है, वह समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न है। दण्डत्व में कुछ भी विशेषण रूप से प्रतीत नहीं होता है, अतः दण्डत्व में रही अवच्छेदकतावच्छेदकता निरवच्छिन्न है। अब 'दण्डी नहीं है' इस वाक्य का नैयायिक भाषा में यह अर्थ होगा– 'समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी दण्डत्व में रहने वाली जो अवच्छेदकता उससे निरूपित और संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी दण्ड में रहनेवाली जो अवच्छेदकता उससे निरूपित ऐसी जो संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न और दण्डी में रहनेवाली प्रतियोगिता उसका निरूपक अभाव है।'[४१]

जिस सम्बन्ध से जो सिद्ध किया जाता है, जो कार्य किया जाता है, जिसका विधान किया जाता है और जिस सम्बन्ध से जो हेतु है, जो कारण है अथवा जो प्रकार है – वह सम्बन्ध उस में रहनेवाली साध्यता, कार्यता, विधेयता, हेतुता, कारणता और प्रकारता का अवच्छेदक होता है। 'सुन्दर मनुष्य है' यहाँ मनुष्य रूप धर्मी की केवल विशेष्य रूप में ही प्रतीति होती है, किन्तु उसके सम्बन्ध का कहीं पर भी ज्ञान नहीं होता है। इसलिये मनुष्य रूप धर्मी में रहनेवाले अधिकरणता, अनुयोगिता, विशेष्यता और पक्षता आदि सापेक्षधर्म किसी भी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं हैं, किन्तु केवल धर्म से ही ये सापेक्षधर्म अवच्छिन्न होते है।

जो धर्म साध्य आदि मे विशेषण रूप से प्रतीत होता है, वह धर्म साध्यता आदि का अवच्छेदक बनता है। जैसे 'पर्वत वह्निवाला है, धूम होने से' इस अनुमान में पर्वत रूप पक्ष मे धूम रूप हेतु के द्वारा संयोग सम्बन्ध से वह्नि सिद्ध किया जाता है, अतः अनुक्रम से पर्वतत्व पक्षतावच्छेदक धर्म है, धूमत्व हेतुतावच्छेदक धर्म है और वह्नित्व साध्यतावच्छेदक धर्म है। संयोग सम्बन्ध साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध है। हेतु भी संयोग सम्बन्ध से होने से हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध भी संयोग सम्बन्ध ही है।

जहां साध्यतावच्छेदक धर्म सखण्ड होता है, वहाँ साध्यतावच्छेदकता का अवच्छेदक भी होता है। जैसे – 'सो वर्ष का भी यह वृद्ध मरेगा, मनुष्य होने से' इस अनुमान में मरण साध्य है और मरणत्व साध्यतावच्छेदक है। श्वास और प्रश्वास का विराम मरण है, अतः श्वासप्रश्वासविराम स्वरूप मरणत्व सखण्डोपाधि धर्म है। सखण्डोपाधि धर्म होने से मरणत्व में मरणत्वत्व धर्म विशेषण बनेगा। अतः मरणत्वत्व साध्यताव्छेदकता-वच्छेदक है। इस प्रकार अन्य स्थलों पर भी जानना चाहिये।

अवच्छेदक पद का कहीं विशेषण एसा अर्थ होता है। अवच्छिन्न पद का विशिष्ट अथवा आश्रय एसा अर्थ होता है। 'अवच्छेदकत्व मात्र से अन्वय (होता है)।' यहाँ अवच्छेदकत्व का 'विशेषणत्व' ऐसा अर्थ है।

'वह्नित्वावच्छिन्न जिस किसी का भी...' यहाँ 'वह्नित्वावच्छिन्न का' इस पद का अर्थ 'वह्नित्वाश्रय का' ऐसा होता है।

[सु.१०१] साध्यपदार्थ में रही हुई तथा अनुमिति से निरूपित विधेयता नामक विषयता ही मूल में लिखित 'साध्यता' पद का अर्थ है। विधेयता पद का साधारण अर्थ होता है – उद्देश्यविधेयभावस्थल से सम्बन्धित विधेयता। 'पर्वत वह्निवाला है, धूम होने के कारण' इत्यादि न्यायस्थल से सम्बन्धित तथा वह्नि आदि साध्य में रहनेवाली जो विधेयता नामक विषयता है वह अनुमिति की विधेयता है। 'धनवान सुखी है' इत्यादि स्थल में जो सुख आदि पदार्थ में रहनेवाली विधेयता है वह उद्देश्यविधेयभावस्थल से सम्बन्धित साधारण विधेयता है। वह विधेयता सुखत्वादि धर्म से तथा समवायादि सम्बन्ध से अवच्छिन्न है। उस प्रकार के स्वरूप भेद के आधार पर ही (अनुमितिस्थल से सम्बन्धित विधेयता को–) 'साध्यता' और (उद्देश्यविधेयभावस्थल से सम्बन्धित साधारण विधेयता को–) 'विधेयता' इस प्रकार भिन्न रूप से उल्लेख किया जाता है।[४२]

[सु.१०२] कार्यता और कारणता – ये दोनों सापेक्ष धर्म भी किसी एक धर्म तथा किसी एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न होता है इसका उदाहरण इस प्रकार है। संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिमत्त्व आदि सम्बन्ध से घट आदि पदार्थ के प्रति स्वजन्यभ्रमिमत्त्व आदि सम्बन्ध से दण्ड आदि पदार्थ कारण है। यहाँ घट आदि पदार्थ में कार्यता तथा दण्ड आदि पदार्थ में कारणता रहती है। घट आदि पदार्थ में रहनेवाली कार्यता का अवच्छेदक धर्म घटत्व आदि हैं तथा संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिमत्त्व सम्बन्ध अवच्छेदकसम्बन्ध है। इसी कारण से घट आदि में रही हुई कार्यता घटत्व आदि धर्म से तथा संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिमत्त्वसम्बन्ध से अवच्छिन्न है। दण्ड आदि में रही हुई कारणता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है तथा स्वजन्यभ्रमिमत्त्व सम्बन्ध अवच्छेदकसम्बन्ध है। अतः वह कारणता दण्डत्व आदि धर्म से तथा स्वजन्यभ्रमिमत्त्वसम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

[सु.१०३] 'प्रकारता' ज्ञान की एक ऐसी वस्तुगत विषयता है जो ज्ञान में किसी पदार्थ के अंश में विशेषण रूप में भासित होती है। जैसे – 'संयोगसम्बन्ध से घटवाला भूतल है' – इस ज्ञान में भूतल रूप विशेष्य में घट

विशेषण रूप में भासित होता है। अतः घट में ऊपरोक्त ज्ञान की प्रकारता नाम की विषयता रहती है । वह प्रकारता घटत्व धर्म से तथा संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

[सु.१०४] 'अवच्छेदके विशेषणीभूतो धर्मः' – इस मूल ग्रन्थ की पंक्ति का अर्थ – 'अवच्छेदक में विशेषणरूप में मुख्यतया प्रतीत होता हुआ धर्म' (– अवच्छेदकता का अवच्छेदक होता है) इस प्रकार समझना चाहिए। अन्यथा 'वह्निवाला है, धूम होने के कारण' इत्यादि अनुमान के स्थल में वह्नि आदि साध्य पदार्थ जैसे वह्नित्व धर्म से विशिष्ट है वैसे ही तेजस्त्व धर्म से भी विशिष्ट है, अतः तेजस्त्व धर्म में भी अवच्छेदकता की आपत्ति प्राप्त होती है । 'विशेषणीभूत' इस पद में जो च्वि प्रत्यय है उससे ऐसा विशेष अर्थ सूचित है – ऐसा कहा जा सकता है। 'दण्डश्च दण्डिनि संयोगसम्बन्धेन तिष्ठति' – इत्यादि मूलग्रन्थ के सन्दर्भ में 'तिष्ठति' पद का अर्थ 'भासित होता है' – ऐसा जानना चाहिए। अन्यथा 'दण्डी नहीं है' – इत्यादि प्रतीति में – जहाँ दण्डि के अंश में समवायसम्बन्ध से दण्ड का ज्ञान होता है – वहाँ दण्ड आदि का अवच्छेदकत्व ऊपरोक्त वाक्य के द्वारा समर्थित नहीं होगा।[४३]

[सु.१०५] अनुल्लिख्यमान जाति तथा अखण्डोपाधि का भान निष्प्रकारक होता है ऐसा पूर्व में ही विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस नियम के कारण ही 'दण्डी नहीं है' – इस प्रतीति में अनुल्लिख्यमान जाति होने के कारण दण्डत्व का स्वरूप से ही भान होता है । अतः यहाँ दण्डत्व में जो (प्रतियोगितावच्छेदकता की –) अवच्छेदकता है, वह निरवच्छिन्न है। यहाँ 'निरवच्छिन्न' पद का अर्थ – 'सामान्य रूप से (किसी भी अवच्छेदक से) अवच्छिन्न न होना अथवा किसी (धर्म या सम्बन्ध) में रहनेवाली अवच्छेदकता का निरूपक न होना' – ऐसा नहीं है ।[४४] क्योंकि दण्डत्व में रहनेवाली अवच्छेदकता किसी धर्म से अवच्छिन्न न होते हुए भी समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है । इस कारण से निरवच्छिन्न पद का अर्थ – 'किसी धर्म से अवच्छिन्न न होना' अथवा 'किसी धर्म में रहनेवाली विलक्षण अवच्छेदकता का निरूपक न होना' – ऐसा करना चाहिए। ऊपर जो 'विलक्षण अवच्छेदकता' कही गई, वहाँ 'संसर्ग (= सम्बन्ध) से अवच्छिन्न होना' ही अवच्छेदकता की विलक्षणता है। इसी कारण से सम्बन्ध भी किसी प्रकार से धर्म स्वरूप होने के

बावजूद – 'सम्बन्ध में रहनेवाली संसर्ग सम्बन्धी जो अवच्छेदकता है वह सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती' – ऐसा नियम होने से सम्बन्ध में स्थित अवच्छेदकता में विलक्षणता की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[४५]

[सु.१०६] कहीं कहीं वृत्तिता के अवच्छेदक सम्बन्ध को स्वीकार करके अधिकरणता में उस (वृत्तिता के) अवच्छेदकसम्बन्ध से अवच्छिन्न होने का व्यवहार देखा जाता है । जैसे सिद्धान्तलक्षण की जागदीशी टीका में – 'यत्प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतानिरूपितस्वरूपसम्बन्धेन'–इस पंक्ति में वृत्तिता के अवच्छेदकसम्बन्ध को स्वीकार किया गया है। ऐसे सभी स्थलों में 'अवच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नधिकरणता' – इस प्रकार के पद का अर्थ – 'अवच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितानिरूपिताधिकरणता' अर्थात् 'उस अवच्छेदकसम्बन्ध से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता' – ऐसा स्वीकार करना चाहिए । अधिकरणता में तथा विशेष्यता में सम्बन्ध से अवच्छिन्न होने का स्वीकार करने से क्या दोष आते हैं, वह 'न्यायपरिभाषा' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए।[४६]

[सु.१०७] अधिकरणता का साक्षात् कोई अवच्छेदक सम्बन्ध नहीं होने पर भी कहीं कहीं स्वयं (= अधिकरणता) से निरूपित वृत्तिता के अवच्छेदकसम्बन्ध को ग्रहण करके 'संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न अधिकरणता' – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

[सु.१०८] सखण्डधर्म की अपने आप में निष्प्रकारक प्रतीति नहीं होती है। इस कारण से ही 'मरणत्व' धर्म में 'मरणत्वत्व' धर्म प्रकार रूप में भासित होता है। 'एवमन्यदपि' इस मूलग्रन्थ में जो 'अन्य' पद है, उससे 'दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इत्यादि अन्य अनुमान प्रयोगों में स्थित दण्डत्व आदि साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकों को जानना चाहिए।

[सु.१०९] सिद्धान्तलक्षण की दीधिति टीका की व्याख्या (= जागदीशी) में जगदीश तर्कालङ्कार ने 'वह्नित्वविशिष्ट' अथवा 'वह्नित्वाश्रय' – इन दोनों पदों के समान अर्थ में 'वह्नित्वावच्छिन्न' पद का प्रयोग किया है। वह प्रयोग इस पंक्ति में है – 'वह्नित्वावच्छिन्नस्य सर्वस्यैव धूमादिमन्निष्ठाभावप्रतियोगिता–वच्छेदकीभूततत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नत्वादव्याप्तिरिति ।' इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है – धूम रूप हेतु के अधिकरण में 'तद्व्यक्तिर्नास्ति' इत्यादि चालनी

न्याय से प्राप्त (–वह्नित्व के आश्रयभूत तथा वह्नित्व से विशिष्ट–) सभी वह्निव्यक्तियों का अभाव प्रतियोगिता के अवच्छेदक तत्तत्व्यक्ति से अवच्छिन्न हो जाने के कारण अव्याप्ति होती है। जबकि हेतु के अधिकरण में वर्तमान अभाव के प्रतियोगितावच्छेदक से अनवच्छिन्न ऐसे साध्य के साथ हेतु का समानाधिकरण में रहना – यही सिद्धान्तलक्षण में वर्णित व्याप्ति है।

टिप्पणी

४१. इस विषय को रेखांकन से इस तरह समझा जा सकता है –

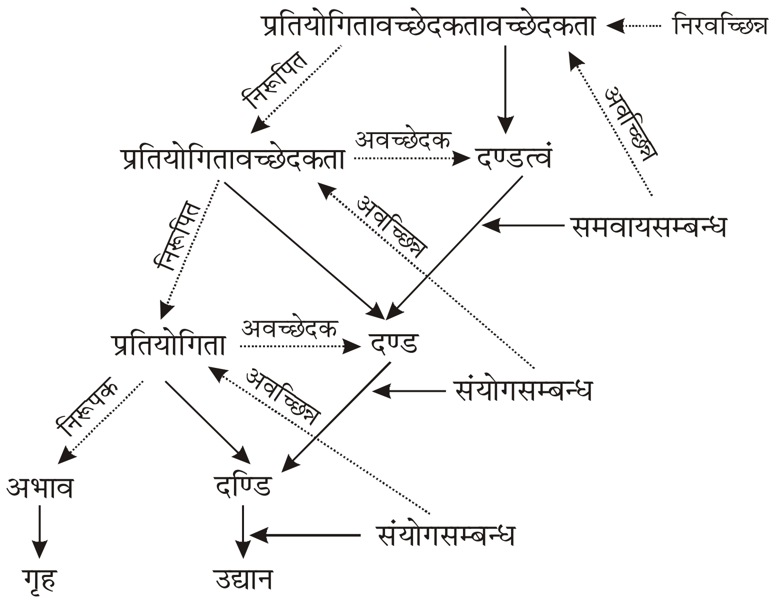

४२. किसी पदार्थ का केवल विधान करना तथा उस पदार्थ को हेतु के द्वारा सिद्ध करना ये दोनों भिन्न बात है। जिसका केवल विधान किया जाता है उसे विधेय कहा जाता है और उसमें विधेयता रहती है तथा जिसे सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहा जाता है और उसमें साध्यता रहती है।

४३. 'दण्ड दण्डि में संयोगसम्बन्ध से रहता है' – इस पंक्ति में 'रहता है' का अर्थ 'भासित होता है' ऐसा नहीं करेंगे तो – जब उस सम्बन्ध से वह धर्म

'रहता होगा' तभी वह सम्बन्ध उस धर्म में रही अवच्छेदकता का अवच्छेदक बनेगा। किन्तु जब उस सम्बन्ध से वह धर्म केवल 'भासित होगा' तब वह सम्बन्ध उस धर्म में रही अवच्छेदकता का अवच्छेदक नहीं बनेगा और ऐसा होने पर जहाँ 'दण्डी नहीं है' – इत्यादि प्रतीति में समवायसम्बन्ध से दण्डी में दण्ड का ज्ञान होता है, वहाँ समवायसम्बन्ध दण्ड में स्थित अवच्छेदकता का अवच्छेदक नहीं बनेगा। क्योंकि प्रस्तुत स्थल में दण्ड समवायसम्बन्ध से दण्डि में 'रहता' नहीं है, किन्तु केवल 'भासित' ही होता है। अतः उक्त स्थल में 'रहता है' का अर्थ 'भासित होता है' ऐसा करना चाहिए।

४५. प्रस्तुत स्थल में दण्डत्व में रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता की अवच्छेदकता निरवच्छिन्न है। यहाँ निरवच्छिन्न पद का अर्थ – किसी धर्म में स्थित विलक्षण सम्बन्ध से अवच्छिन्न ऐसी अवच्छेदकता का निरूपक न होना – ऐसा किया गया है। दण्डत्व में रही हुई अवच्छेदकता समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न है अतः वह अवच्छेदकता समवायसम्बन्ध में स्थित अवच्छेदकता की निरूपक है। किन्तु वह समवाय में स्थित अवच्छेदकता स्वयं अन्य किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध में रही हुई सांसर्गिकी अवच्छेदकता किसी भी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती। अतः वह अवच्छेदकता 'विलक्षण अवच्छेदकता' नहीं है। इसी कारण से समवाय में स्थित उस 'अविलक्षण' अवच्छेदकता का निरूपक होने के बावजूद, दण्डत्व में रही हुई अवच्छेदकता निरवच्छिन्न कही जाती है।

४४. यहाँ निरवच्छिन्न पद का अर्थ करते वक्त जो दो विकल्प दिए हैं वे दोनों समानार्थी हैं। जो अवच्छिन्न होता है वह अपने अवच्छेदक में निष्ठ अवच्छेदकता का निरूपक होता है। जो अवच्छिन्न नहीं होता, वह किसी पदार्थ में निष्ठ अवच्छेदकता का निरूपक नहीं होता।

४६. मूलग्रन्थ के 'सुन्दरो नरः...' इत्यादि पाठ को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि जिस धर्मी का कहीं पर भी सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता हो उस धर्मी में रहे हुए अधिकरणता आदि सापेक्षधर्म किसी धर्म से अवच्छिन्न हो सकते हैं, किन्तु किसी भी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं हो सकते। इस संदर्भ में कहीं कहीं ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वृत्तिता के अवच्छेदक सम्बन्ध से ही अधिकरता को भी अवच्छिन्न मान लिया जाता है। ऐसी प्रवृत्ति अप्रामाणिक है। ऐसा मानने से

क्या दोष होता है ? इस का समाधान स्थूल रूप से इस तरह समझा जा सकता है – 'रूपवान् घटः' इस ज्ञान में 'रूप' प्रकार है तथा घट विशेष्य है। रूप में प्रकारता प्रकार रहती है। वह प्रकारता रूपत्व धर्म से अवच्छिन्न है तथा रूप घट में समवाय सम्बन्ध से रहता है, अतः रूप में स्थित प्रकारता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है। विशेष्य स्वरूप घट में विशेष्यता रहती है। वह विशेष्यता घटत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। अब यहाँ वस्तुस्थिति ऐसी हो कि – वह घट भूतल में संयोगसम्बन्ध से रहा हुआ हो, तो घट में स्थित विशेष्यता संयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न होनी चाहिए। किन्तु वैसा बोध प्रस्तुत ज्ञान के आकार में भासित नहीं होने के कारण विशेष्यता को किसी भी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं मानी जाती है। यदि वृत्तिता के अवच्छेदकसम्बन्ध से अधिकरणता को अवच्छिन्न मानने की ऊपरोक्त प्रवृत्ति को प्रमाण माना जाये तो यहाँ घट में स्थित अधिकरणता भी समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न माननी पड़ेगी – जो कि वस्तुस्थिति से सम्पूर्णतया विरुद्ध है। इस प्रकार अधिकरणता तथा विशेष्यता आदि धर्मों को वृत्तिता आदि के अवच्छेदक सम्बन्धों से अवच्छिन्न मानने में अन्य भी दोष आते हैं जिनकी चर्चा 'न्यायपरिभाषा' ग्रन्थ में की गई है। यदि ऊपरोक्त प्रवृत्ति को अप्रमाण मानेंगे तो सिद्धान्तलक्षण–जागदीशीटीका आदि में जहाँ उक्त प्रवृत्ति का व्यवहार हुआ हो वहाँ उस पाठ का अर्थ कैसे करेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि – उन स्थलों में 'तत्सम्बन्धावच्छिन्ना–धिकरणता...' इत्यादि पंक्ति का अर्थ – 'उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न वृत्तिता से निरूपित अधिकरणता' – इस प्रकार करना चाहिए। ऐसा अर्थ करने से कोई असंगति नहीं होगी।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२८] ज्ञानं द्विविधम्; निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्च। 'निर्' नास्ति 'विकल्पः' विशेष्यविशेषणभावः विशेष्यविशेषणयोः सम्बन्धो वा यस्मिन् तत् निर्विकल्पकम्। निर्विकल्पके हि ज्ञाने केवलं धर्मधर्मिणोः पटत्वपटयोः परस्परमसंसृष्टयोः (पट–पटत्वे इत्याकारकं) भानं (प्रकाशो) भवति, न तु तयोः सम्बन्धस्यापि भानम्। विषयेन्द्रियसन्निकर्षे सति जायमानं प्राथमिकं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं भवति।

तत्रेदं कारणम् -विशिष्टबुद्धिं [I] प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतु-त्वम् । न हि अज्ञातशुक्लरूपस्य जनस्य 'इदं शुक्लं वस्त्रम्' इति प्रतीतिर्भवति । ततश्च पटे चक्षुःसंयोगात् पूर्वं तत्समकालं वा पटत्वज्ञानस्य नियतमसम्भवाद् पटत्वज्ञानं विना पटत्वस्य विशेषणतया पटे ज्ञानासम्भव इति, पटे चक्षुःसंयोगानन्तरं प्रथमं पटत्वस्य ज्ञाने जाते ततो द्वितीयेन ज्ञानेन 'अयं पट' इति पटत्वविशिष्टबुद्धिर्भवति ।

विशेष्यविशेषणभावावगाहिज्ञानं [J] सविकल्पकं (विक-ल्पेन सहितम्) ज्ञानम् । 'अयं घटः' 'सुन्दरो नरः' इत्यादि विशिष्टज्ञानं सर्वमेव सविकल्पकम् ।

द्वितीयप्रत्यक्षं सर्वदैव विशिष्टज्ञानमेव भवति । प्राथमिकेन निर्विकल्पकेन प्रत्यक्षेण अवगतस्य घटत्वादिसामान्यस्य घटादौ विशेषणतया प्रतीतौ बाधाभावात् । तृतीयन्तु प्रत्यक्षं प्रायशो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि [K] भवति । यथा-'कृष्णपशुपूर्णा पशुशाला' इति । अत्र कृष्णारूपविशिष्टस्य पशोः पशुशालायां सम्बन्धो भासते । 'दण्डिपूर्णो मठ' इति ज्ञाने दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्य वैशिष्ट्यं (सम्बन्धः) मठे प्रतीयते ।

विशिष्टज्ञाने एकं विशेष्यम् अपरं विशेषणं भवति । विशेष्यस्यैव उद्देश्यमिति नामान्तरम् । विशेषणस्य प्रकार इति । यथा-'सुन्दरो नरः' इत्यत्र नरो विशेष्यः, सौन्दर्यं प्रकारः ।

I एकस्मिन् अपरस्य विशेषणतया ज्ञानं विशिष्टबुद्धिः । विशिष्टबुद्धौ एकस्मिन् अपरस्य सम्बन्धः प्रतीयते । यथा 'अयं घटः', 'सुन्दरो नरः' इत्यादौ घटे घटत्वस्य, नरे सौन्दर्यगुणस्य विशेषणतया प्रतीतिः, सम्बन्धस्य चावगमः ।

J अवगाहनं, भासनं, भानं, विषयीकरणं, प्रकाशनञ्च इत्येते शब्दाः समानार्थकाः । सुतरां अवगाहते, भासते, भाति, विषयीक्रियते, प्रकाशते इति क्रियापदानामपि एकरूप एवार्थः ।

K विशिष्टस्य विशेषणसम्बद्धस्य वैशिष्ट्यं सम्बन्धमवगाहते विषयीकरोति इति विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ।

विशेष्ये प्रकारे च यद् विशेषणतया प्रतीयते तद् यथाक्रमं विशेष्यतावच्छेदकं प्रकारतावच्छेदकञ्च भवति । यथा- 'मृण्मयोऽयं गिरिः आश्विने मासि मनोहरपुष्पसमृद्धो भवति' इत्यादौ गिरौ विशेष्ये मृत्तिका गिरित्वञ्च विशेष्यतावच्छेदकम्, मृत्तिकात्वन्तु विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदकम् । एवं मनोहरपुष्प-समृद्धौ प्रकारे मनोहरपुष्पं विशेषणम् । तत्र च मनोहरत्वं पुष्पत्वञ्च विशेषणतया प्रतीयत इति पुष्पं प्रकारतावच्छेकं; मनोहरत्वं पुष्पत्वञ्च उभयमेव प्रकारतावच्छेकतावच्छेदकम् ।

विशेष्ये विशेष्यता प्रकारे च प्रकारता वर्तते । ते च परस्परं निरूप्यनिरूपकभावापन्ने । विशेष्यतानिरूपिता प्रकारता भवति, प्रकारतानिरूपिता च विशेष्यतेति, एवं प्रकारता विशेष्यनिरूपिता भवति विशेष्यता च प्रकारनिरूपिता भवति । एतत् सर्वं वृत्तितावर्णनास्थले उक्तप्रायमेव ।

विशेषणं द्विविधम्- सिद्धं साध्यञ्च । सिद्धं पूर्वावगतं विशेषणम्, विशेष्यस्य इतरेभ्यो व्यावर्तनाय विशेष्यान्तरा प्रयुज्यते । साध्यञ्च पूर्वमप्राप्तं प्राधान्येन विधीयते । साध्यस्य विधेयमिति नाम । यथा- 'दयादाक्षिण्यादिगुणैरलङ्कृतो जनकानुरक्तोऽयं रामः सर्वैर्नमस्य' इत्यत्र विशेष्यस्य रामस्य दयादाक्षिण्यादिगुणैरलङ्कृतत्वं जनकानुरक्तत्वञ्च पूर्वावगतमिति सिद्धं विशेषणम् इतरव्यावर्तनाय उद्देश्यमध्ये प्रयुक्तम् । नमस्यत्वन्तु पूर्वमसिद्धमिति विधीयते । विधेयस्य विधानञ्च क्वचित् विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन, क्वचिच्च विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन भवति ।

यस्मिन् कस्मिन्नपि विशेष्ये यद्विधानं तत् विशेष्यता-वच्छेदकसामानाधिकरण्येन (विशेष्यतावच्छेदकस्य समाने

एकस्मिन् अधिकरणे वृत्तितया) विधानम् । यथा-'ब्राह्मणो विद्वान् भवति' इत्यनेन न 'सर्व एव ब्राह्मणा विद्वांसो भवन्ति' इति विधीयते, किन्तु 'यत्र यत्र ब्राह्मण्यं वर्तते तेषां मध्ये केषुचित् विद्या वर्तत' इति । यत्र यत्र विशेष्यतावच्छेदकं वर्तते, तत्र सर्वत्रैव (अर्थात् सर्वस्मिन्नेव विशेष्ये) विधेयस्य विधानं विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन (विशेष्यतावच्छेदकस्य अवच्छेदेन व्याप्त्या) विधानम् । यथा-'मनुष्यो मरणशीलः' इत्यनेन न केषुचित् मनुष्येषु मरणशीलत्वं विधीयते, किन्तु सर्वेष्वेव मनुष्येषु । मनुष्यत्वं व्याप्य सर्वेष्वेव मनुष्येषु मरणशीलत्वं विधीयत इति ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.११०] निर्विकल्पज्ञानं विशेष्यविशेषणभावं विशेष्यविशेषणयोः सम्बन्धञ्च न विषयीकरोतीति विश्वनाथः 'प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्' इति कारिकांशद्वारा भाषापरिच्छेदे प्रतिपादितवान् । अस्यायमर्थः- पूर्वोक्तं निर्विकल्पज्ञानं प्रकारताविशेष्यतादिविषयताशून्यं विशेष्यविशेषणयोः संसर्गाविषयकञ्च भवति । तच्च निर्विकल्पज्ञानं प्रमाप्रमयोः (यथार्थायथार्थयोः) कस्मिंश्चिद्भेदेऽपि नान्तर्याति । एतदपि भाषापरिच्छेदे 'न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पम्' इति विश्वनाथोक्तकारिकांशद्वारा समर्थितं भवति । अत्र कारणं हि प्रमाप्रमयोरुभयत्रैव प्रकारता तथा विशेष्यता वर्तते ।

[सु.१११] विश्वनाथो निर्विकल्पज्ञाने युक्तिप्रदर्शनप्रसङ्गात् प्रोवाच यत्- 'चक्षुःसंयोगानन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वविशिष्टज्ञानं न सम्भवति, पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेः ज्ञानाभावात्, विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । तथा च प्रथमतः घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते । तदेव निर्विकल्पकम् । तच्च न प्रत्यक्षम्' इति । अर्थात् घटे चक्षुःसंयोगानन्तरं घटत्वविशिष्टः घट इत्याकारकं ज्ञानं न सम्भवति, यतः पूर्वं घटत्वादिरूपस्य विशेषणस्य ज्ञानं न भवति । परन्तु विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानं कारणमिति नियमो वर्तते । अत एवादौ (घटे चक्षुःसंयोगात्परम्) घटघटत्वयोः पारस्परिकसम्बन्धं न विषयीकृत्यैव

(घटघटत्वे इत्याकारकम्) ज्ञानं भवति। तदेव निर्विकल्पकं ज्ञानम् । तच्च निर्विकल्पकज्ञानं (सविकल्पकज्ञानमिव) न प्रत्यक्षग्राह्यम् । विशेषं जिज्ञासुना 'ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते' इति कारिकाया मुक्तावलीटीकादौ तद्युक्तिरनुसन्धेया। 'चक्षुःसंयोगात्पूर्वं तत्समकाले वा पटत्वज्ञानम् असम्भावि' इत्यस्य युक्तिरियं यत् पटत्वं हि पटरूपद्रव्ये समवायसम्बन्धेन वर्तमाना जातिविशेषः । समवायसम्बन्धेन द्रव्यस्थितस्य वस्तुनः प्रत्यक्षे स्वयुक्तसम-वायसम्बन्धेन स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन वा इन्द्रियं कारणम् । पटे चक्षुःसंयोगात्पूर्वं पटरूपद्रव्यस्य चक्षुःसंयुक्तत्वाभावात् प्रोक्तरूपसम्बन्धेनेन्द्रियं पटत्वे सम्बद्धुं नार्हति, चक्षुःसंयोगसमकाले च स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन इन्द्रियं तत्पटत्वगतं सदपि तत्पूर्ववर्तित्वाभावात् चक्षुःसंयोगात्पूर्वं तत्समकाले च पटत्वप्रत्यक्षं न सम्भवति। पटे चक्षुःसंयोगोत्पत्तेरनन्तरमेव स्वसंयुक्तसमवेत-त्वरूपपरम्परासम्बन्धेन पटत्वरूपपटसमवेतजातौ चक्षुःस्वरूपस्येन्द्रियस्य सत्त्वात् तद्विषये विषयतारूपकार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रत्यक्षं सम्भवति।

[सु.११२] न्यायशास्त्रीयरीत्यनुसारं सामानाधिकरण्येन अवच्छेदकाव-च्छेदेन च विधेयस्य विधानं ज्ञातुम् एतज्ज्ञातव्यं यत्- 'संयोगेन पर्वतो वह्निमान्' इत्याद्यनुमितौ पर्वतः पक्षः (विशेष्यमुद्देश्यं वा) वह्निर्विधेयः (साध्यः), संयोगश्च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः विधेयतावच्छेदकसम्बन्धो वा। पर्वतत्वं पक्षतावच्छेदकम्, वह्नित्वं साध्यतावच्छेदकम् । अत्र प्रकृते पक्षे यथा पक्षता (विशेष्यतोद्देश्यता वा) वह्नौ च विधेयता साध्यता वास्ति तथैव संयोगरूप-साध्यतावच्छेदकसम्बन्धे संसर्गताधर्मो वर्तते । पक्षगता विशेष्यतोद्देश्यता वा यथा पक्षतावच्छेदकीभूतपर्वतत्वावच्छिन्ना, वह्निगता विधेयता च यथा वह्नित्वावच्छिन्ना तथैव संयोगगता संसर्गता संयोगरूपसम्बन्धांशे विशेषणरूपेण भासमानसंयोगत्वावच्छिन्ना। पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यस्य विधान-स्थले (पर्वतः) संयोगेन वह्निमान् इत्यत्र केवलं संयोगत्वं तथा 'महानसीय-संयोगेन वह्निमान्' इत्यत्र महानसीयत्वं संयोगत्वञ्चेति धर्मद्वयं संसर्गतावच्छे-दकम्। अत एव प्रकृतस्थलीया प्रथमसंसर्गता संयोगत्वमात्रावच्छिन्ना द्वितीया च महानसीयत्वसंयोगत्वरूपधर्मद्वयमात्रावच्छिन्ना ।

[सु.११३] पक्षतावच्छेदकधर्मावच्छेदेन पक्षे साध्यस्य विधानस्थले संयोगत्वादिरूपं धर्ममात्रमेव संसर्गतावच्छेदकरूपेण न भासते, अपि तु 'संयोगेन

पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारके ज्ञाने सत्यपि तत्र संयोगत्वं यथा संसर्गतावच्छेद-करूपेण भासते तथैव पर्वतत्वव्यापकवह्निप्रतियोगिकत्वरूपोऽपर एको धर्मः संसर्गतावच्छेदकरूपेण प्रतीयते । अत एव तत्पक्षतावच्छेदकधर्मावच्छेदेन साध्यविधानस्थलीया संयोगगता संसर्गता यथा संयोगत्वावच्छिन्ना तथैव पर्वतत्व-व्यापकवह्निप्रतियोगिकत्वावच्छिन्ना । तत्संसर्गतावच्छेदकधर्मघटकरूपेण वह्निरूपसाध्यांशे पर्वतत्वव्यापकत्वस्यावगाहनात् तदवच्छेदकावच्छेदेन पर्वते वह्नेः ज्ञानं भ्रमात्मकः, किन्तु सामानाधिकरण्यमात्रेण ज्ञानस्थले प्रोक्तरूपव्यापकत्व-स्यानवगाहनात् पर्वतत्वसामानाधिकरण्येन प्रोक्तरूपं ज्ञानं भ्रमात्मकं न भवति, यतः सर्वेषु पर्वतेषु वर्तमानत्वघटितपर्वतत्वव्यापकत्वस्य वह्नौ असत्त्वेपि यत्किञ्चित् पर्वते वह्निसत्त्वात् उक्तसामानाधिकरण्यमात्रेण पर्वते वह्नेर्ज्ञानं यथार्थं भवति ।

[सु.११४] केचन मन्यन्ते यत् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यस्य ज्ञानस्थले साध्यतावच्छेदकसंसर्गांशे पक्षतावच्छेदकव्यापकत्वमिव पक्षतावच्छेद-कावच्छेद्यत्वं साध्यांशे प्रकाररूपेणैव भासते । तथाहि तत्र ज्ञानाकारो भवति 'संयोगेन पर्वतत्वावच्छेद्यवह्निमान् पर्वतः' इत्यादिः सामानाधिकरण्यमात्रस्थले च 'संयोगेन वह्निमान् पर्वतः' इत्यादिः । जगदीशतर्कालङ्कारः पक्षतादीधितेर्व्या-ख्यायां प्रोक्तमतस्य उल्लेखं तस्य खण्डनञ्चाकरोत् । तद्यथा-'यत्तु पर्वतत्वावच्छे-द्यत्वम् अवच्छेद्यतासम्बन्धेन पर्वतत्वादिकं वा साध्यांशे प्रकारतयैवानुमितौ भासते तथा च 'पर्वतत्वावच्छेद्यवह्निमान्' इत्येव 'पर्वतत्ववद्वह्निमान्' इत्येव वा अनुमितिरिति प्राचीनास्तत्तुच्छम् इति । अर्थात् प्राचीना मन्यन्ते यत् पर्वतत्वावच्छेद्यत्वम् (पर्वतत्वव्यापकत्वम्) अथवा अवच्छेद्यतासम्बन्धेन पर्वतत्वादिधर्मोऽनुमितिस्थले साध्यांशे प्रकाररूपेणैव प्रतीयते । तस्मात् पर्वतः पर्वतत्वावच्छेद्यवह्निमान् अथवावच्छेद्यतासम्बन्धेन पर्वतत्ववद्वह्निमान् इत्याकारिकानुमितिर्भवति । तन्मतं न समीचीनम् । तेन पूर्वोक्तरूपेणैव विधेयता-वच्छेदकसंसर्गगर्भे पक्षतावच्छेदकधर्मव्यापकत्वस्य भानाभानप्रयुक्तः सामानाधि-करण्येनावच्छेदकावच्छेदेन च ज्ञानस्य पारस्परिकवैलक्षण्यपक्ष एव ग्राह्यः ।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२८] ज्ञान दो प्रकार का है - पहला निर्विकल्पक और दूसरा सविकल्पक । जिस ज्ञान में विकल्प अर्थात् विशेष्य-विशेषणभाव अथवा विशेष्य और विशेषण का सम्बन्ध नहीं है उसे निर्विकल्पक ज्ञान

कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में मात्र धर्म और धर्मी–जैसे कि पटत्व और पट – इन दोनों का परस्पर असंसृष्ट अर्थात् असम्बन्धित रूप में 'पट और पटत्व' ऐसे आकार वाला भान होता है, किन्तु उन दोनों के सम्बन्ध का भान नहीं होता है। विषय और इन्द्रिय इन दोनों का सन्निकर्ष होने पर जो पहला प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक ज्ञान होता है।

ऐसा होने का कारण यह है कि विशिष्ट बुद्धि के लिए विशेषण का ज्ञान हेतु बनता है। जिसने शुक्ल रूप को नहीं जाना है ऐसे व्यक्ति को 'यह शुक्ल वस्त्र है' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अब चक्षु का पट के साथ संयोग होने से पहले अथवा उसी वक्त पटत्व का ज्ञान निश्चय रूप से असंभव ही है और जब तक पटत्व का ज्ञान नहीं होगा तब तक पट में पटत्व का विशेषण रूप मे भान भी नहीं हो सकता। इस कारण से पट के साथ चक्षु का संयोग होने के बाद पहले पटत्व का ज्ञान होता है। उसके बाद द्वितीय ज्ञान से 'यह पट है' ऐसी पटत्व से विशिष्ट पट की बुद्धि होती है।

विशेष्य–विशेषणभाव को अवगाहन करनेवाला ज्ञान सविकल्पक अर्थात् विकल्प से सहित होता है। 'यह घट है', 'मनुष्य सुन्दर है' ये सभी विशिष्ट ज्ञान सविकल्पक हैं।

सभी द्वितीय–प्रत्यक्ष विशिष्ट ज्ञान ही होते हैं, क्योंकि प्राथमिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जाने गये घटत्व आदि सामान्य की घट आदि पदार्थो में विशेषण रूप से प्रतीति होने में कोई बाध नहीं है। तृतीय–प्रत्यक्ष तो प्रायः करके विशिष्ट के वैशिष्ट्य को अवगाहन करनेवाला होता है। जैसे – 'कृष्ण पशुओं से पूर्ण पशुशाला है' – यहाँ कृष्ण रूप से विशिष्ट पशु का सम्बन्ध पशुशाला में भासित होता है। 'दण्डी अर्थात् दण्ड वाले पुरुषों से पूर्ण मठ है' – इस ज्ञान में दण्ड से विशिष्ट पुरुष का वैशिष्ट्य अर्थात् सम्बन्ध मठ में प्रतीत होता है।

विशिष्ट ज्ञान में एक विशेष्य और दूसरा विशेषण होता है। विशेष्य का दूसरा नाम है उद्देश्य और विशेषण का दूसरा नाम है प्रकार। जैसे – 'मनुष्य सुन्दर है'– यहाँ मनुष्य विशेष्य है और सौन्दर्य–सुन्दरता प्रकार है। विशेष्य में और प्रकार में जो विशेषण रूप से प्रतीत होता है वह अनुक्रम

से विशेष्यतावच्छेदक और प्रकारतावच्छेदक होता है। जैसे – 'मिट्टीमय यह गिरि आश्विन मास में मनोहर ऐसे पुष्पों से समृद्ध होता है' यहाँ गिरि रूप विशेष्य में 'मृत्तिका' और 'गिरित्व' विशेषण है और मृत्तिका में 'मृत्तिकात्व' विशेषण है। इस कारण से 'मृत्तिका' और 'गिरित्व' विशेष्यतावच्छेदक हैं और 'मृत्तिकात्व' विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक है। इस प्रकार 'मनोहरपुष्पसमृद्धि' रूप प्रकार में 'मनोहरपुष्प' विशेषण है और उसमे 'मनोहरत्व' और 'पुष्पत्व' विशेषण रूप में प्रतीत होते हैं। अतः 'पुष्प' प्रकारतावच्छेदक है और 'मनोहरत्व' और 'पुष्पत्व' ये दोनों प्रकारतावच्छेदकता-वच्छेदक है।

विशेष्य में विशेष्यता और प्रकार में प्रकारता रहती है। विशेष्यता और प्रकारता परस्पर निरूप्य-निरूपकभाव से युक्त होती हैं। विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है और प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होती है। इसी प्रकार प्रकारता विशेष्य से निरूपित होती है और विशेष्यता प्रकार से निरूपित होती है। यह सब वृत्तिता के वर्णन के प्रसंग पर कहा जा चुका है।

विशेषण दो प्रकार का है – पहला सिद्ध विशेषण और दूसरा साध्य विशेषण। सिद्ध विशेषण पूर्व में ही जाना गया होता है और विशेष्य को अन्य पदार्थों से अलग करने के लिये विशेष्य के अन्दर ही सिद्ध विशेषण का प्रयोग किया जाता है। साध्य विशेषण वह होता है जो पूर्व में अप्राप्त हो अर्थात् पूर्व में नहीं जाना गया हो और जिसका प्रधानता से विधान किया जाता है। साध्य का ही दूसरा नाम विधेय है। जैसे – 'दयादाक्षिण्य आदि गुणों से अलंकृत और जनक में अनुराग वाला यह राम सभी के द्वारा नमस्कार करने योग्य है' – यहाँ विशेष्य रूप राम में 'दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से अलंकृत होना' और 'जनक में अनुराग वाला होना' ये दो विशेषण पूर्व में ही जाने गये हैं। अतः ये दोनों सिद्ध विशेषण हैं और राम को अन्य व्यक्तिओं से अलग करने के लिये उद्देश्य में ही इन दोनों विशेषणों का प्रयोग किया गया है। 'नमस्कार करने योग्य होना' – यह धर्म पूर्व में सिद्ध नहीं था, अतः उसका विधान किया जाता है। विधेय का विधान कहीं विशेष्यतावच्छेदक के समानाधिकरण

में अर्थात् एक अधिकरण में होता है और कहीं पर विशेष्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न सभी अधिकरणों में होता है। किसी भी एक विशेष्य में जो विधान किया जाता है, वह विशेष्यतावच्छेदकसमानाधिकरण्य से विधान कहलाता है। जैसे – 'ब्राह्मण विद्वान होता है' – इस वाक्य से 'सभी ब्राह्मण विद्वान होते हैं' – ऐसा विधान नहीं किया जा रहा है, किन्तु 'जहां जहां ब्राह्मणत्व है अर्थात् जितने ब्राह्मण है उनमें से कुछ व्यक्तियो में विद्या होती है' – ऐसा विधान किया जाता है। जहां जहां विशेष्यतावच्छेदक रहता है उन सभी अधिकरणों में विधेय का विधान करना, यह विशेष्यतावच्छेदक के अवच्छेद से अर्थात् विशेष्यतावच्छेदक की व्याप्ति से विधान कहलाता है। जैसे – ' 'मनुष्य मरणशील अर्थात् मृत्यु के स्वभाव वाला है – इस वाक्य से किन्हीं थोड़े मनुष्यों में मरणशीलत्व धर्म का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु सभी मनुष्यो में – जहां जहां मनुष्यत्व रहता है उन सभी में मरणशीलत्व धर्म का विधान किया जाता है।[४७]

[सु.११०] निर्विकल्पज्ञान विशेष्यविशेषणभाव को तथा विशेष्य और विशेषण के बीच के सम्बन्ध को अपना विषय नहीं बनाता है। इस बात को विश्वनाथ ने भाषापरिच्छेद की – 'प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्' – इस कारिकांश के द्वारा प्रतिपादित किया है। कारिकांश का अर्थ इस प्रकार है – 'निर्विकल्पज्ञान प्रकारता, विशेष्यता आदि विषयता से शून्य होता है तथा विशेष्य और विशेषण के संसर्ग को विषय नहीं करता है'। वह निर्विकल्पज्ञान प्रमा तथा अप्रमा के किसी भेद में अन्तर्भूत नहीं होता है। यह बात भी विश्वनाथ ने भाषापरिच्छेद में कही हुई – 'न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पम्' – इस कारिकांश से समर्थित होती है। निर्विकल्पज्ञान का प्रमा या अप्रमा दोनों में से किसी में भी अन्तर्भाव न होने का कारण यह है कि प्रमा तथा अप्रमा इन दोनों में प्रकारता तथा विशेष्यता होती है, किन्तु निर्विकल्पज्ञान में इनका सर्वथा अभाव होता है।

[सु.१११] विश्वनाथ ने निर्विकल्पज्ञान के विषय में युक्ति बताते हुए कहा है कि – 'चक्षु का संयोग होने के बाद 'घट' – ऐसे आकारवाला घटत्व से विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्व में घटत्व आदि विशेषण का ज्ञान नहीं हुआ है और विशिष्टबुद्धि में तो विशेषण का ज्ञान कारण होता है। इसलिये पहले

तो घट और घटत्व के वैशिष्ट्य को अवगाहन नहीं करनेवाला ज्ञान ही होता है। वही निर्विकल्पज्ञान है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है' ।

अर्थात् घट में चक्षु का संयोग होने के तुरन्त बाद 'घटत्व से विशिष्ट घट है' – ऐसा ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि चक्षु संयोग होने से पहले घटत्व आदि विशेषण का ज्ञान नहीं होता है और विशिष्टबुद्धि (= विशेषण से विशिष्ट ज्ञान) के प्रति विशेषण का ज्ञान कारण है ऐसा नियम है। इसलिये पहले (घट में चक्षु का संयोग होने के बाद घट और घटत्व के पारस्परिक सम्बन्ध को विषय न करके (घट और घटत्व – ऐसा आकारवाला) ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान ही निर्विकल्पक ज्ञान है। वह निर्विकल्पक ज्ञान – जैसे सविकल्पज्ञान प्रत्यक्ष से ग्राह्य है उस तरह – प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं है। जिज्ञासुओं को 'ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते' – इस कारिका की मुक्तावली टीका में इस विषय की युक्तिओं को विशेष रूप से देखना चाहिये।

'चक्षु का संयोग होने से पूर्व अथवा जब चक्षु का संयोग होता है उसी वक्त पटत्व का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता' – इस नियम में युक्ति यह है कि – 'पटत्व' तो पट द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहती एक जाति है। जो वस्तु द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहती हो, उसके प्रत्यक्ष में स्वयुक्तसमवायसम्बन्ध से अथवा स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध से इन्द्रिय कारण बनती है। यहाँ पट में चक्षु का संयोग होने से पहले तो पटद्रव्य चक्षु से संयुक्त ही नहीं होने के कारण ऊपरोक्त सम्बन्ध से चक्षु इन्द्रिय पटत्व में सम्बद्ध नहीं हो सकती। अतः चक्षु का संयोग होने से पहले पटत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जिस समय पट में चक्षु का संयोग होता है उस समय स्वसंयुक्तसमवेतत्वसम्बन्ध से चक्षु इन्द्रिय पटत्व में सम्बन्ध हो जाती है फिर भी ऊपरोक्त सम्बन्ध से पटत्व में सम्बद्ध चक्षु इन्द्रिय में पटत्व–चक्षुसंयोगकाल के पूर्ववर्तित्व का अभाव होने से चक्षुसंयोगकाल में पटत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। पट में चक्षु का संयोग होने के बाद ही पट द्रव्य में समवायसम्बन्ध से वर्तमान पटत्व जाति में, स्वसंयुक्तसमवेतत्व नामक परम्परासम्बन्ध से चक्षुइन्द्रिय सम्बद्ध हो जाने से विषयता नामक कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से पटत्व का प्रत्यक्ष हो सकता है।[४८]

[सु.११२] न्यायशास्त्र की रीति के अनुसार विधेय का विधान दो तरीकों से किया जाता है – एक सामानाधिकरण्य से और दूसरा अवच्छेदक के आश्रय से

अथवा अवच्छेदक की मर्यादा से। इस विषय को जानने के लिए निम्नलिखित कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए। 'संयोगसम्बन्ध से पर्वत वह्निवाला है' – इस अनुमिति में पर्वत पक्ष, विशेष्य अथवा उद्देश्य है। वह्नि विधेय या साध्य है। संयोगसम्बन्ध साध्यता का अथवा विधेयता का अवच्छेदकसम्बन्ध है। पक्षतावच्छेदक पर्वतत्व है। साध्यतावच्छेदक वह्नित्व है। अब यहाँ पक्ष में जैसे पक्षता, विशेष्यता या उद्देश्यता धर्म है तथा वह्नि में जैसे विधेयता या साध्यता धर्म है, उसी तरह संयोग नामक साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध में संसर्गता धर्म रहता है। पक्ष में स्थित विशेष्यता या उद्देश्यता जैसे पक्षता के अवच्छेदक पर्वतत्व धर्म से अवच्छिन्न है तथा वह्नि में स्थित विधेयता जैसे वह्नित्व धर्म से अवच्छिन्न है, उसी तरह संयोग में स्थित संसर्गता भी संयोगसम्बन्ध में विशेषण रूप में भासित होते हुए संयोगत्व धर्म से अवच्छिन्न है।

पक्षतावच्छेदक के सामानाधिकरण्य से जहाँ साध्य का विधान किया जाता है वहाँ 'संयोगसम्बन्ध से वह्निवाला है'–इस स्थल में मात्र संयोगत्व धर्म ही संसर्गता का अवच्छेदक बनता है तथा 'महानस सम्बन्धी संयोगसम्बन्ध से वह्निवाला है'–इस स्थल में महानसीयत्व तथा संयोगत्व ये दो धर्म संसर्गता के अवच्छेदक बनते हैं। अतः पक्षतावच्छेदक के सामानाधिकरण्य से साध्य के विधानस्थल में प्रथम स्थल (= संयोग से वह्निवाला है) सम्बन्धी संसर्गता मात्र संयोगत्व धर्म से अवच्छिन्न है तथा द्वितीय स्थल (= महानसीयसंयोग से वह्निवाला है) सम्बन्धी संसर्गता महानसीयत्व तथा संयोगत्व इन दो धर्मों से अवच्छिन्न है।

[सु.११३] जहाँ पक्षतावच्छेदक धर्म के अवच्छेद (= आश्रय या मर्यादा) से पक्ष में साध्य का विधान किया जाता है वहाँ संसर्गता के अवच्छेदक रूप में केवल संयोगत्व धर्म ही भासित नहीं होता है, किन्तु 'संयोगसम्बन्ध से पर्वत वह्निवाला है'–इस आकारवाला ज्ञान होते हुए भी वहाँ संसर्गता के अवच्छेदक रूप में जैसे 'संयोगत्व' धर्म भासित होता है उसी तरह 'पर्वतत्वव्यापकवह्नि-प्रतियोगिकत्व' स्वरूप एक अन्य धर्म भी संसर्गता के अवच्छेदक रूप में प्रतीत होता है। अतः पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से साध्य के विधानस्थल में संयोग में स्थित संसर्गता जैसे संयोगत्व से अवच्छिन्न है उसी तरह पर्वतत्वव्यापक-वह्निप्रतियोगिकत्व धर्म से भी अवच्छिन्न है। उस संसर्गता के अवच्छेदक धर्म

(= पर्वतत्वव्यापकवह्नि-प्रतियोगिकत्व धर्म) में घटक रूप में स्थित वह्नि रूप साध्य के अंश में पर्वतत्व के व्यापकत्व का अवगाहन होने से पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से पर्वत में वह्नि का ज्ञान भ्रम स्वरूप है ।[४९] किन्तु केवल सामानाधिकरण्य से ही साध्य के ज्ञान स्थल में वह्नि स्वरूप साध्य के अंश में पर्वतत्व के व्यापकत्व का अवगाहन नहीं होने से पर्वतत्व के सामानाधिकरण से वह्नि का ज्ञान भ्रम स्वरूप नहीं होता है, क्योंकि 'सभी पर्वतों में वर्तमानत्व' – इस धर्म से घटित 'पर्वतत्वव्यापकत्व' धर्म वह्नि में न होने पर भी कुछेक पर्वतों में वह्नि होता है। अतः पर्वतत्व के सामानाधिकरण्य से पर्वत में वह्नि का ज्ञान यथार्थ होता है।

[सु.११४] कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि – जहाँ पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से साध्य का ज्ञान होता है वहाँ जैसे साध्यता के अवच्छेदक स्वरूप संसर्ग के अंश में पक्षतावच्छेदकव्यापकत्व भासित होता है, वैसे ही साध्य के अंश में पक्षतावच्छेदकावच्छेद्यत्व धर्म प्रकार स्वरूप में भासित होता है। इसके अनुसार पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से साध्य के ज्ञानस्थल में ज्ञान का आकार – 'संयोगसम्बन्ध से, पर्वतत्व से अवच्छेद्य वह्निवाला पर्वत है' – ऐसा होता है तथा सामानाधिकरण्य से साध्य के ज्ञानस्थल में ज्ञान का आकार – 'संयोगसम्बन्ध से वह्निवाला पर्वत है' – ऐसा होता है। जगदीश तर्कालङ्कार ने पक्षतादीधिति की व्याख्या में ऊपरोक्त मत का उल्लेख तथा खण्डन किया है। जागदीशी का वह पाठ इस प्रकार है – 'यत्तु पर्वतत्वावच्छेद्यत्वम् अवच्छेद्यतासम्बन्धेन पर्वतत्वादिकं वा साध्यांशे प्रकारतयैवानुमितौ भासते तथा च 'पर्वतत्वावच्छेद्यवह्निमान्' इत्येव 'पर्वतत्ववद्वह्निमान्' इत्येव वा अनुमितिरिति प्राचीनास्तत्तुच्छम्' अर्थात् प्राचीन नैयायिक मानते हैं कि, पर्वतत्वावच्छेद्यत्व धर्म (= पर्वतत्वव्यापकत्वधर्म) अथवा अवच्छेद्यतासम्बन्ध से पर्वतत्व धर्म अनुमिति में साध्य के अंश में प्रकार स्वरूप में ही प्रतीत होता है । अतः अनुमिति का आकार भी – 'पर्वतत्व से अवच्छेद्य वह्निवाला (पर्वत) है' अथवा 'अवच्छेद्यतासम्बन्ध से पर्वतत्व वाली वह्नि वाला (पर्वत) है' – ऐसा होता है। किन्तु वह मत समीचीन नहीं है। अतः जिस प्रकार पूर्व में कहा गया तदनुसार विधेयता के अवच्छेदक संसर्ग के अन्तर्गत पक्षतावच्छेदकधर्म के व्यापकत्व के भान से और भान के अभाव से प्रयुक्त ऐसे ज्ञान के दो परस्पर विलक्षण पक्ष – 'सामानाधिकरण्य से ज्ञान' तता 'अवच्छेदक के अवच्छेद से ज्ञान' – इन दो को ही ग्रहण करना चाहिए।

※ टिप्पणी ※

४७. १. विशेष्यतावच्छेदक के सामानाधिकरण्य से विधेय का विधान –

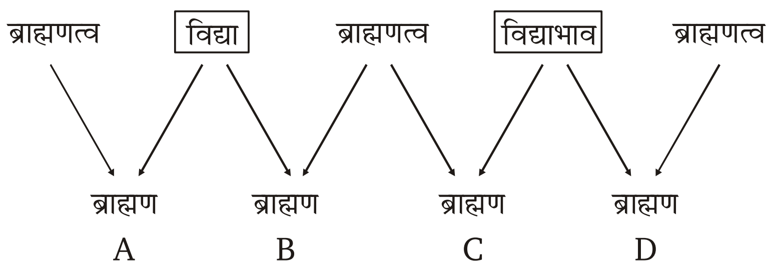

२. विशेष्यतावच्छेदक के अवच्छेदक (= आश्रय) से विधेय का विधान –

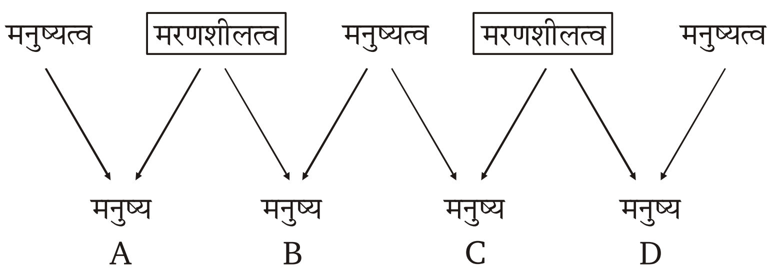

४८. विशिष्टज्ञान की उत्पत्ति का क्रम –

क्षण–१ > चक्षु–पट का संयोग = इन्द्रिय–विषयसंयोग

कारण ↑ ↓ कार्य

क्षण–२ > पट और पटत्व का ज्ञान = विशेषण का ज्ञान

कारण ↑ ↓ कार्य

क्षण–३ > पटत्व विशिष्ट पट का ज्ञान = विशिष्टज्ञान

४९. पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से वह्नि का पर्वत में ज्ञान होगा तब

अवश्य वह्नि में पर्वतत्वव्यापकत्व का अवगाहन होगा। किन्तु वास्तव में सभी पर्वतों में वह्नि नहीं रहता है, अतः वह्नि में पर्वतत्वव्यापकत्व नहीं है। इस कारण से पक्षतावच्छेदक के अवच्छेद से पर्वत में वह्नि का ज्ञान भ्रम स्वरूप होता है।

❊ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ❊

[न.२९] विधेये मुख्यप्रकारता तिष्ठति । मुख्यप्रकारता-निरूपिता विशेष्यता च मुख्यविशेष्यता भवति। विधेयभिन्ने या प्रकारता सा न मुख्या । एवं या च विशेष्यता मुख्यप्रकारता-निरूपिता न भवति सापि न मुख्यविशेष्यता । अत एव 'जनकानुरक्तोऽयं रामः पूज्यः' इत्यत्र पूज्यत्वरूपविधेयनिष्ठा प्रकारता मुख्या, तन्निरूपितैव च रामनिष्ठा विशेष्यता मुख्या। जनकानुरक्तत्वरूपविशेषणनिष्ठा च प्रकारता न मुख्या, सुतरां तन्निरूपिता रामनिष्ठा विशेष्यतापि न मुख्या ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.११५] एकस्मिन्नेव वस्तुनि यदि विषयताद्वयं तिष्ठति तर्हि ते विषयते परस्परमभिन्ने इति जगदीशादिग्रन्थकाराः स्वीकुर्वन्ति। यथा दण्डवत्पुरुषवान् देश इत्यादौ पुरुषे दण्डप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता देशगतविशेष्यतानिरूपिता प्रकारता चेति विषयताद्वयं तिष्ठति । ते च विशेष्यताप्रकारतारूपे विषयते परस्परमभिन्ने। अत एव प्रोक्तज्ञानस्य विशेषपरिचयार्थं वक्तुं शक्यते यत्-उक्तं ज्ञानं दण्डत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नप्रकारता-निरूपितदेशत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपकमिति। गदाधरभट्टाचार्यस्तु प्रोक्तमते दोषारोपं कृत्वा तस्य मतस्य परिहारपूर्वकं तादृशविषयतयोः परस्परम् अवच्छेद्यावच्छेदकभावं स्वीचकार । तन्मते तज्ज्ञानं दण्डत्वावच्छिन्नप्रकारता-निरूपितपुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छेद्यप्रकारतानिरूपितदेशत्वावच्छिन्न-विशेष्यतानिरूपकम्। तस्य मतवैषम्यस्य विवरणं तत्त्वचिन्तामणेरनुमितिप्रकरणे गादाधरीटीकायां द्रष्टव्यम्।

[सु.११६] तत्सिद्धान्तानुसारं जगदीशादिमतेन विधेयतया सहाभिन्नप्रकारता मुख्यप्रकारता तथा विधेयतानात्मिका विधेयताभिन्ना वा प्रकारता गौणप्रकारता,

सा न मुख्यप्रकारता। गदाधरमतानुसारं विधेयत्वावच्छेद्यप्रकारता मुख्यप्रकारता विधेयत्वानवच्छेद्यप्रकारता च गौणप्रकारता, सा न मुख्यप्रकारता।

[सु. ११७] विधेये मुख्यप्रकारता तिष्ठतीति नियमः विधेयप्रकारकज्ञान–स्थले एवेति ज्ञेयम् । यतः विधेयविशेष्यके 'पर्वते वह्निः' इत्यादिज्ञानस्थले वह्निप्रभृतिविधेयपदार्थे मुख्यप्रकारता न तिष्ठति तथा विधेयभिन्नपर्वतादिपदार्थे मुख्यप्रकारता तिष्ठति।

❊ अनुवाद ❊

[नव्य.२९] विधेय में मुख्यप्रकारता रहती है। मुख्य प्रकारता से निरूपित विशेष्यता मुख्य विशेष्यता कहलाती है। जो प्रकारता विधेय से भिन्न पदार्थ में रहती है वह प्रकारता मुख्य नहीं होती है। इसी प्रकार जो विशेष्यता मुख्यप्रकारता से निरूपित नहीं होती वह विशेष्यता मुख्य नहीं होती है। इसी कारण से 'जनक में अनुराग वाला यह राम पूज्य है' – यहाँ 'पूज्यत्व' रूप विधेय में रहनेवाली प्रकारता मुख्य है और उससे निरूपित ऐसी 'राम' में रहनेवाली विशेष्यता मुख्य है। 'जनकानुरक्तत्व' रूप विशेषण में रहनेवाली प्रकारता मुख्य नहीं है और उससे निरूपित ऐसी 'राम' में रहनेवाली विशेष्यता भी मुख्य नहीं है।[५०]

[सु.११५] एक ही वस्तु में यदि दो विषयताएँ रहती हैं तो वे दोनों विषयताएँ परस्पर अभिन्न होती हैं – ऐसा जगदीश तर्कालङ्कार आदि ग्रन्थकार स्वीकार करते हैं। जैसे – 'दण्डवाले पुरुषवाला देश है' – इस ज्ञान में, पुरुष में – दण्ड में स्थित प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और देश में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता – ये दो विषयताएँ रहती हैं। वे विशेष्यता और प्रकारता स्वरूप दोनों विषयताएँ परस्पर अभिन्न हैं। अतः ऊपरोक्त ज्ञान की विशेष स्पष्टता के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि – दण्डत्व से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित जो पुरुषत्व से अवच्छिन्न विशेष्यता, उस विशेष्यता से अभिन्न प्रकारता से निरूपित जो देशत्व से अवच्छिन्न विशेष्यता, तादृश विशेष्यता का निरूपक यह ज्ञान है।

गदाधर भट्टाचार्य ने ऊपरोक्त मत में दोष दिखाकर, एकत्र स्थित दो विषयताओं में परस्पर अभिन्नता का परिहार करके तादृश दो विषयताओं में परस्पर अवच्छेद्य–अवच्छेदकभाव को स्वीकार किया है। उस मत में ऊपरोक्त

ज्ञान की विशेष स्पष्टतार्थ ऐसा कह सकते हैं कि – दण्डत्व से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित जो पुरुषत्व से अवच्छिन्न विशेष्यता, उस विशेष्यता से अवच्छेद्य प्रकारता से निरूपित जो देशत्व से अवच्छिन्न विशेष्यता, तादृश विशेष्यता का निरूपक यह ज्ञान है। उस मत की विषमता (= अलगता) का वर्णन तत्त्वचिन्तामणि के अनुमितिप्रकरण की गादाधरी टीका में देखना चाहिए।[५१]

[सु.११६] ऊपर कहे गये सिद्धान्त के अनुसार जगदीश आदि ग्रन्थकारों के मत में विधेयता के साथ अभिन्न प्रकारता मुख्यप्रकारता है तथा जो प्रकारता विधेयता से भिन्न हो या विधेयता स्वरूप न हो वह प्रकारता गौणप्रकारता है, वह मुख्यप्रकारता नहीं है। गदाधर भट्टाचार्य के मतानुसार विधेयता से अवच्छेद्य प्रकारता मुख्यप्रकारता है तथा जो प्रकारता विधेयता से अवच्छेद्य नहीं है वह प्रकारता गौणप्रकारता है, वह मुख्यप्रकारता नहीं है।

[सु.११७] 'विधेय में मुख्यप्रकारता रहती है'–यह नियम उसी ज्ञानस्थल में हैं, जिस ज्ञान में विधेयपदार्थ प्रकार के रूप में हो। क्योंकि जिस ज्ञान में विधेयपदार्थ विशेष्य के रूप में हो वैसे 'पर्वत में वह्नि है'–इत्यादि ज्ञानस्थल में वह्नि आदि विधेयपदार्थ में मुख्यप्रकारता नहीं रहती है किन्तु विधेय से भिन्न पर्वत आदि पदार्थ में मुख्यप्रकारता रहती है।

❊ टिप्पणी ❊

५०. मुख्य तथा गौण–विशेष्यता और प्रकारता का रेखांकन –

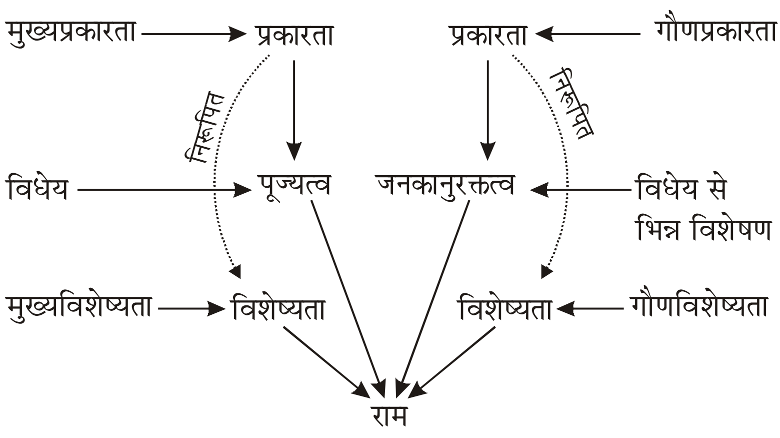

५१. एकत्र स्थित दो विषयता जगदीश तर्कालंकार आदि के मत में अभिन्न होती है तथा गदाधर भट्टाचार्य के मत में वे दोनों विषयता परस्पर अवच्छेद्य–अवच्छेदकभाव वाली होती है। उन दोनों मतानुसार रेखांकन –

A. जगदीश तर्कालंकार मतानुसार रेखांकन –

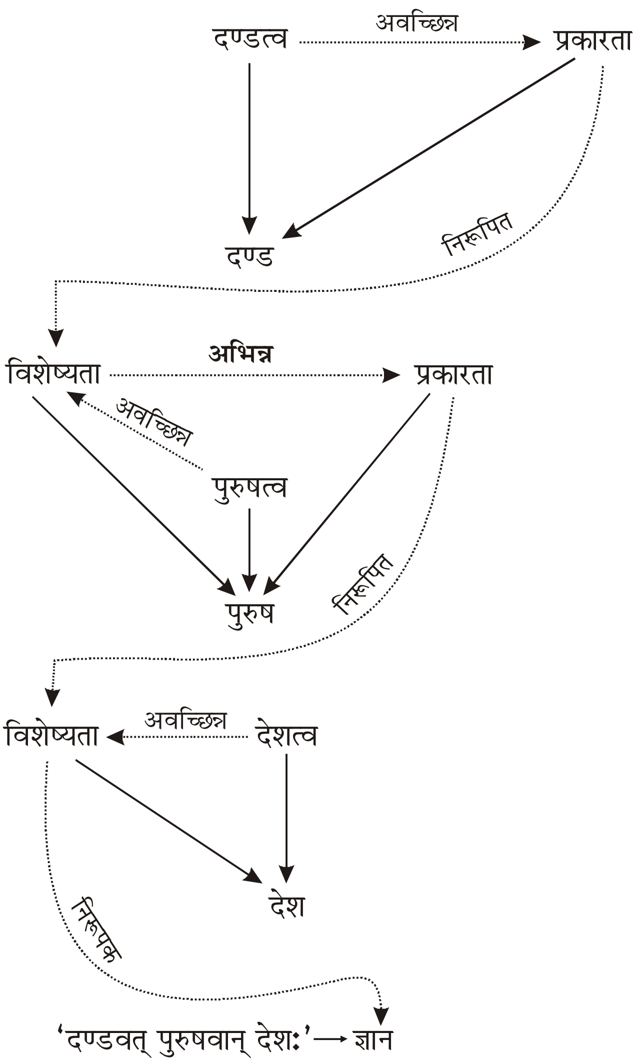

B. गदाधर भट्टाचार्य मतानुसार रेखांकन –

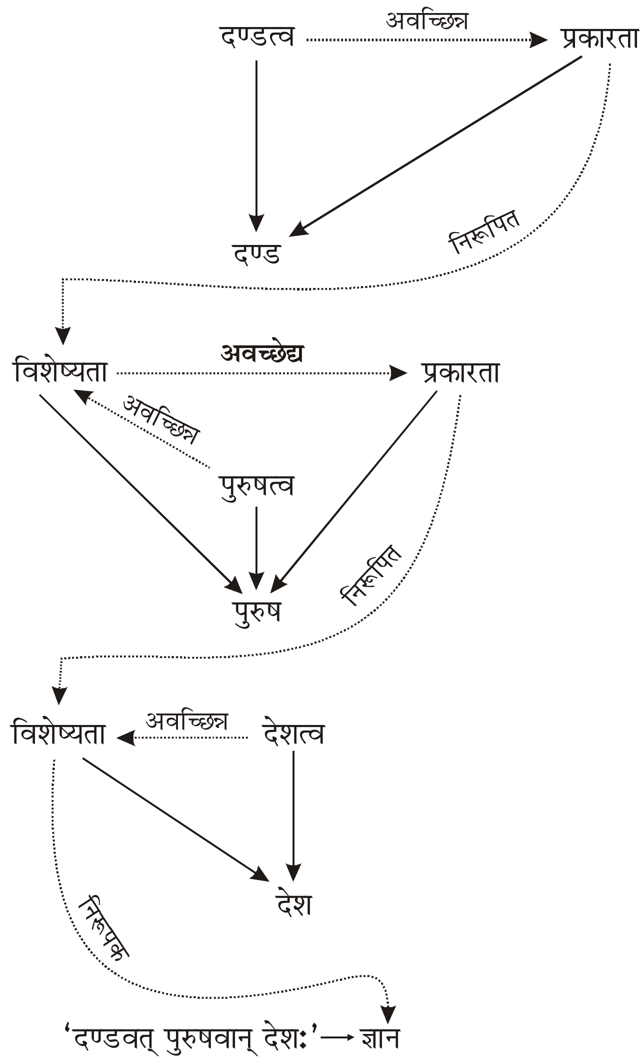

✻ नव्यन्यायभाषाप्रदीपः ✻

[न.३०] पुनश्च ज्ञानं द्विविधम्; निश्चयः संशयश्चेति । यत्र ज्ञाने एकस्मिन् विशेष्ये एकमेव,- तदेव तदभाव एव वा प्रकारतया भासते स निश्चयः । यस्मिंस्तु पुनः एकस्मिन्नेव तत् तदभावश्च उभयमेव भासते स संशयः । यथा-'अयं मनुष्यः' इति निश्चयः, 'दीर्घोऽयं मनुष्यो न वा' इति संशयः । पूर्वत्र एकमेव मनुष्यत्वं प्रकारः; परत्र मनुष्यत्वं तदभावश्च उभयमेव प्रकारः । संशये हि एकस्मिन् विशेष्ये प्रतियोगी तदभावश्च परस्परविरुद्धावपि उभौ प्रकारतया भासेते इति नियमः । तत्र भावाभावोभयप्रकारता-निरूपिता एकैव विशेष्यता भवति । यथा- उक्ते उदाहरणे मनुष्यत्वनिष्ठा या प्रकारता, या च मनुष्यत्वाभावनिष्ठा प्रकारता, एतदुभयनिरूपिता एकैव विशेष्यता अस्मिन् दीर्घे विशेष्ये वर्तते । समूहालम्बनस्थले [L] तु प्रत्येकप्रकारतानिरूपिता पृथक् पृथक् विशेष्यता भवति इति संशयात् समूहालम्बनस्य भेदः । संशये प्रकारस्य कोटिरिति नाम । 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादौ संशये कोटिचतुष्टयमस्ति-स्थाणुत्वं, स्थाणुत्वाभावः, पुरुषत्वं पुरुषत्वाभावश्चेति । अत एवायं संशयः चातुष्कोटिक इत्युच्यते । केचित्तु वदन्ति; अत्रापि कोटिद्वयमेवास्ति; स्थाणुत्वम्, स्थाणुत्वविरुद्धपुरुषत्वञ्चेति ।

संशये च क्वचित् कोटिद्वयं समानं भवति, क्वचिच्च काचिदेका कोटिरुत्कटा भवति । 'आश्विने मासि वृष्टिरधिका

L यत्र एकस्मिन् विशेष्ये 'एकत्र द्वयम्' इति रीत्या बहूनि विशेषणानि प्रतीयन्ते, तज्ज्ञानं समूहालम्बनम् । (समूहः (अनेके) आलम्बनं प्रकारतया विषयो यस्य तत् ।) यथा – 'वृक्षः कपिसंयोगी कपिसंयोगाभाववांश्च' इत्यस्मिन् ज्ञाने एकस्मिन् वृक्षे कपिसंयोगः कपिसंयोगाभावश्च एकदैव विशेषणतया प्रतीयते । अथ च नायं संशयः । अत्र हि कपिसंयोगनिष्ठप्रकारतानिरूपिता वृक्षनिष्ठा एका विशेष्यता, एका च कपिसंयोगाभावनिष्ठप्रकारतानिरूपितेति ।

भवति न वा' इति सन्देहे अधिकवृष्टेः तदभावस्य वा बोधकं किमपि चिह्नमधुना नास्तीति नैकापि कोटिरुत्कटा। परन्तु 'भाद्रे मासि वृष्टिर्भवति न वा' इति संशये भाद्रमासस्य वर्षाकालतया वृष्टिकोटिरुत्कटा इत्ययं संशय उत्कटैककोटिकः । उत्कटैक-कोटिकः संशय एव 'सम्भावने'त्युच्यते । अत एव 'भाद्रे मासि वृष्टिर्भवति न वा' इति ज्ञानं 'सम्भावना' इत्यलम् ।

इति महामहोपाध्याय श्रीमन्महेशचन्द्रन्यायरत्न-प्रणीतः

'नव्यन्यायभाषाप्रदीपः' समाप्तः ।

❊ सुप्रभा ❊

[सु.११८] भाषापरिच्छेदकारिकायां विश्वनाथः येन प्रकारेण निश्चयः संशयश्चेति द्विविधज्ञानस्य स्वरूपं वर्णितवान्, मूलकारस्य वर्णनापि तदनुसारिणी।

[सु.११९] विश्वनाथः जगाद-'तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः' इति। अर्थात् ज्ञाने यो धर्मः प्रकाररूपेण भासते, तत्र तदभावेऽप्रकारीभूते यदि तन्मात्रं प्रकारीभवति तर्हि तदेव तद्धर्मस्य निश्चयः। मूलकारः 'तदेव तदभाव एव वा' इति वाक्यस्थेतरव्यावर्तकस्य एवशब्दस्योपन्यासेन प्रकारीभूतधर्मा-भावरूपतेरस्य व्यावर्तनं कृत्वा विश्वनाथस्यैवानुगत्यमरक्षत्। किन्तु विश्वनाथेन प्रकृतमूलकारेण चोभयेनैव प्रदर्शितं निश्चयस्वरूपं यथाश्रुतरूपेण न दोषमुक्तम्, यतः पर्वतो वह्निमान् जलं वह्न्यभाववत्, इति ज्ञाने वह्निवह्न्यभावनिश्चयलक्षणं न समन्वेति, यतः उक्तज्ञाने यथा वह्निः प्रकारीभूतः तथैव वह्न्यभावोऽपि, अपरतश्च यथा वह्न्यभावः प्रकारीभूतस्तथैव वह्न्यभावाभावरूपः वह्निरपि प्रकारीभूतः।

[सु.१२०] तत्प्रकारतायां तदभावप्रकारतायाञ्चैकधर्मावच्छिन्नविशेष्यता-निरूपितत्वस्य निवेशेऽपि 'वह्निमान् वह्न्यभाववान् च पर्वतः' इत्यादिनिश्चयेऽ-व्याप्तिर्भवति। अत एवोभयप्रकारतायामेव एकविशेष्यतानिरूपितत्वं निवेश्यम्। 'वह्निमान् वह्न्यभाववान् च पर्वतः' इत्यादि समूहालम्बनज्ञाने समुच्चयात्मकज्ञाने वा एकाधिका विशेष्यता वर्तन्ते । गदाधरमते ताः परस्परं भिन्ना अवच्छेद्या-वच्छेदकभावापन्ना च। तन्मतानुसारमेव परिष्कारः बोद्धव्यः।

[सु.१२१] तादृशनिवेशेऽपि एकत्र द्वयमितिरीत्या 'वह्नितदभाववत्पर्वत-

वान् देशः' इत्यादिरूपं यत् निश्चयात्मकं ज्ञानं भवति तत्राव्याप्तिदोषापत्तिः स्यात्। तद्वारणाय तदभावाप्रकारकत्वघटकाभावप्रकारतायामवच्छेदकता-नात्मकत्वमवच्छेदकतानवच्छिन्नत्वमथवा 'एकत्र द्वयम्' इति रीत्या ज्ञानीयप्रकारताभिन्नत्वं निवेश्यम्।

[सु.१२२] 'विशेषणांशे एव एकत्र द्वयमितिरीत्या तथा विशेष्यांशे एव संशयः' इति नियमस्य सत्त्वात् एकत्र द्वयमितिरीत्या ज्ञानीयोक्ताभावप्रकारता अवच्छेदकतात्मिका अवच्छेदकत्वावच्छिन्ना वा, न तत्तद्भिन्ना। मुख्यविशे-ष्यांशभिन्नविशेषणांशे संशयो न भवति। अस्मात् संशयत्वघटकाभावप्रकारता अवच्छेदकतानात्मिका अवच्छेदकत्वानवच्छिन्ना वा। 'एकत्र द्वयमि'ति रीत्या ज्ञानं तथा संशयः परस्परं भिन्नरूपम्। अत एव संशयीयप्रकारता 'एकत्र द्वयमि'ति रीत्या ज्ञानीयप्रकारताभिन्ना। निष्कर्षतः 'तत्संशयान्यतत्प्रकारकज्ञानमेव निश्चयः' इत्येव प्रतिपद्यते।

[सु.१२३] 'संशये प्रकारस्य कोटिरिति नाम' इति मूलांशद्वारा संशयीय-प्रकारता हि कोटित्वाख्येति सूचितम्।

[सु.१२४] मूले संशयस्य स्वरूपवर्णनास्थले 'तत्तदभावश्चोभयमेव भासते' इत्यनेन सह 'एकत्र मुख्यविशेष्ये प्रकारतया' इत्यंशस्य योजना कार्या। अन्यथा तद्योगाभावे 'वह्निस्तदभावश्च, पर्वतो वह्निमान् जलं वह्न्यभाववत्, वह्नितदभाव-वत्पर्वतवान् देशः' इत्यादिनानास्थले प्रोक्तसंशयलक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यात्, यतस्तेषु प्रथमज्ञाने वह्नौ तदभावे च प्रकारतया भासितेऽपि विशेष्ये प्रकारतया न भासते, द्वितीयज्ञाने विशेष्यांशे वह्नौ तदभावे च भासितेऽपि समाने एव विशेष्यांशे प्रकारतया न भासते, तृतीयज्ञानस्थले वह्नौ तदभावे च पर्वतरूपैकस्मिन् विशेष्ये एव प्रकारतया भासितेऽपि 'एकत्र द्वयम्' इति रीत्या ज्ञाने पर्वतस्य मुख्यविशेष्यताभावात् नातिव्याप्तिर्भवति। 'एकत्र मुख्यविशेष्ये प्रकारतया' इति योजितांशस्यापि यथाश्रुतार्थं परित्यज्य 'एकत्र मुख्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारतया' इत्येवमर्थः कार्यः। अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभाववान् च' इत्यादि समूहालम्बनज्ञानेऽतिप्रसङ्गो भवति।

[सु.१२५] विश्वनाथो भाषापरिच्छेदकारिकायां 'स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोरि'ति यत् संशयस्वरूपं वर्णयामास, तस्य तथैकधर्मिघटित-स्थलान्तरीयसंशयलक्षणस्यापि तादृशनिष्कृष्टार्थे तात्पर्यमिति बोद्धव्यम्।

मुक्तावल्ल्या दिनकरीटीकाकारः महादेवभट्टः स्वीयदिनकरीटीकायां प्रकारान्तरेण संशयस्य निष्कृष्टं स्वरूपं वर्णयामास । तद्यथा – 'स्वीयैककोटिप्रकारत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतापरकोटिप्रकारताशालिज्ञानत्वं संशयत्वमिति ध्येयम्' इति ।

[सु.१२६] संशयत्वं जातिविशेष इति मतं खण्डयितुं महादेवभट्टः उवाच यत् 'यत्तु संशयत्वं जातिविशेष इति, तन्न, चाक्षुषत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्' इति । 'सङ्करश्च परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशः' इति । अर्थात् संशयत्वं जातिविशेष इति यदुच्यते तन्न (युक्तम्), यतः संशयत्वस्य जातित्वे चाक्षुषत्वादिजात्या सङ्करप्रसङ्गो भवति । परस्परात्यन्ताभावस्य समानाधिकरणधर्मस्यैकत्र समावेशः सामानाधिकरण्यं वा सङ्करपदार्थः । स सङ्करो साङ्कर्यं वा जातित्वबाधकम् । उक्तसमूहालम्बनज्ञानस्य पादटीकायां यत्– 'एकत्र द्वयम्' इति रीत्या बहूनि विशेषणानि प्रतीयन्ते –इत्यंश उक्तः तस्य तात्पर्यमेतद्यत् 'एकत्र द्वयमि'ति रीत्या ज्ञाने यथा एकस्मिन् विशेष्यांशे एकाधिका धर्माः प्रकारतया भासन्ते, एतस्मिन् ज्ञानेऽपि तद्वत् एकाधिका धर्मा एकस्मिन् विशेष्ये भासन्ते । किन्तु एतत्समूहालम्बनज्ञानम् 'एकत्र द्वयमि'ति रीत्या ज्ञानात्मकं न भवति । तच्च नैयायिकमतेन पारिभाषिकमेकं विशेषज्ञानम् । तस्य एकैव विशेष्यता, समूहालम्बने च एकाधिकविशेष्यता चेत्यादि वैलक्षण्यं विद्यते ।

॥ इति शम् ॥

॥ इति महामहोपाध्याय श्री महेशचन्द्रन्यायरत्नप्रणीतस्य नव्यन्यायभाषाप्रदीपस्य महामहोपाध्यायश्रीकालीपदतर्काचार्येण विरचितायाः सुप्रभेति बङ्गभाषामयव्याख्यायाः श्रीविमलरक्षितेन कृतः संस्कृतानुवादः समाप्तः ॥

☙ अनुवाद ☙

[नव्य.३०] अन्य प्रकार से भी ज्ञान के दो भेद होते हैं – निश्चय और संशय । जिस ज्ञान में एक विशेष्य में कोई पदार्थ अथवा उसका अभाव इन दोनों में से एक ही प्रकार रूप में भासित होता है वह ज्ञान निश्चय कहलाता है । जिस ज्ञान में एक विशेष्य में कोई पदार्थ और उसका अभाव

दोनों एक साथ प्रकार रूप में भासित होते हैं वह ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे – 'यह मनुष्य है' यह निश्चय है और 'यह लम्बा पदार्थ मनुष्य है या नहीं ?' यह संशय है। पूर्व के दृष्टान्त में केवल 'मनुष्यत्व' ही प्रकार है जबकि दूसरे दृष्टान्त मे 'मनुष्यत्व' और 'मनुष्यत्वाभाव' दोनों प्रकार हैं। संशय में एक ही विशेष्य में प्रतियोगी और अभाव – जो परस्पर विरूद्ध होते हैं – वे दोनों प्रकार रूप में भासित होते हैं, ऐसा नियम है। वहाँ भाव और अभाव रूप दोनों प्रकारता से निरूपित एक ही विशेष्यता होती है। जैसे उक्त उदाहरण मे – 'मनुष्यत्व' में रहनेवाली प्रकारता और 'मनुष्यत्वाभाव' मे रहनेवाली प्रकारता – इन दोनों प्रकारता से निरूपित एक ही विशेष्यता 'दीर्घ पदार्थ' रूप विशेष्य मे रहती है। समूहालम्बन ज्ञान में तो प्रत्येक प्रकारता से निरूपित अलग अलग विशेष्यता होती है। इस कारण से समूहालम्बन ज्ञान संशय से भिन्न होता है। संशयज्ञान में प्रकार को ही कोटि कहा जाता है। 'यह स्थाणु है या पुरूष है?' – इस संशय में चार कोटियाँ हैं – (१) स्थाणुत्व, (२) स्थाणुत्वाभाव, (३) पुरुषत्व और (४) पुरुषत्वाभाव। इस कारण से ही यह संशय 'चातुष्कोटिक' कहा जाता है। कोई कहते हैं कि – यहाँ भी दो ही कोटि हैं – (१) स्थाणुत्व और (२) स्थाणुत्व का विरोधि पुरुषत्व। संशय में कहीं दोनो कोटि समान होती हैं और कहीं कोई एक कोटि उत्कट होती है। 'आश्विन मास में अधिक वृष्टि होती है या नहीं ?' इस संदेह में अधिकवृष्टि या उसके अभाव का बोधक कोई चिह्न अभी नहीं है, इस लिये कोइ भी कोटि उत्कट नहीं है। परन्तु 'भाद्र मास मे वृष्टि होती है या नहीं ?' इस संशय में भाद्र मास वर्षा का काल होने के कारण 'वृष्टि' कोटि उत्कट है। अतः यह संशय 'उत्कटैककोटि' है। 'उत्कटैककोटि' संशय को ही 'सम्भावना' कहा जाता है। अतः 'भाद्र मास में वृष्टि होती है या नहीं ?' यह ज्ञान सम्भावना है।

[सु.११८] भाषापरिच्छेदकारिका में विश्वनाथ ने जिस प्रकार से निश्चय और संशय – इन दो प्रकार के ज्ञान का स्वरूप वर्णित किया है, प्रस्तुत ग्रन्थकार का वर्णन भी उसी के अनुसार है।

[सु.११९] विश्वनाथ ने भाषापरिच्छेदकारिका में कहा है कि –

'तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः' अर्थात् ज्ञान में जो धर्म प्रकार रूप में भासित होता है, उस धर्म का अभाव यदि उस ज्ञान में भासित न होता हो और केवल वह धर्म ही प्रकार बनता हो तो वह ज्ञान ही उस धर्म का निश्चय है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मूलकार ने भी 'तदेव तदभाव एव वा' इस वाक्य में, इतरधर्म के व्यावर्तक 'एव' शब्द के प्रयोग के द्वारा प्रकारीभूतधर्म के अभाव स्वरूप इतरधर्म का व्यावर्तन करके विश्वनाथ की परम्परा का ही रक्षण किया है। किन्तु विश्वनाथ तथा ग्रन्थकार – दोनों ने जो निश्चय का स्वरूप प्रदर्शित किया है वह स्पष्ट रूप से निर्दोष नहीं है। क्योंकि – 'पर्वत वह्निवाला है, जल वह्नि के अभाववाला है' – इस ज्ञान में वह्नि और वह्न्यभाव में निश्चय का लक्षण संगत नहीं होता है। ऊपरोक्त ज्ञान में जैसे वह्नि प्रकार है वैसे ही वह्नि का अभाव भी प्रकार है, दूसरी और जैसे वह्न्यभाव प्रकार रूप में है वैसे ही वह्न्यभाव के अभाव स्वरूप वह्नि भी प्रकार है।

[सु.१२०] ज्ञान में भासित होते हुए निश्चित धर्म की प्रकारता में तथा उस धर्म के अभाव की प्रकारता में – एकधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितत्व–का निवेश करने पर ऊपरोक्त अव्याप्ति का वारण हो जाता है, फिर भी 'वह्निवाला और वह्नि के अभाववाला पर्वत है' – इस निश्चय में अव्याप्ति होती है। अतः दोनों प्रकारता में – 'एकविशेष्यतानिरूपितत्व' का निवेश करना चाहिए। 'वह्निवाला और वह्नि के अभाव वाला पर्वत है' – इत्यादि समूहालम्बन या समुच्चय स्वरूप ज्ञान में एक से ज्यादा विशेष्यता है। गदाधर के मत में वे एकाधिक विशेष्यता परस्पर भिन्न है और एक दूसरे की अवच्छेदक तथा एक दूसरे से अवच्छेद्य है। गदाधर के इस मत के अनुसार ही यह परिष्कार जानना चाहिए।[५२]

[सु.१२१] ऊपरोक्त प्रकार से लक्षण में परिष्कार करने के बाद भी 'वह्नि और वह्नि के अभाववाले पर्वतवाला देश है' – ऐसे स्वरूपवाला जो 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धति से होनेवाला निश्चय ज्ञान है वहाँ अव्याप्ति होने की आपत्ति होती है। उस का वारण करने के लिए (तत्प्रकारक और तदभावाप्रकारक ज्ञान निश्चय है अर्थात् किसी निश्चित धर्म की प्रकारता जिसमें भासित हो और उस धर्म के अभाव की प्रकारता जिसमें भासित न हो वह ज्ञान निश्चय है। – इस निश्चयज्ञान के लक्षण में) 'तदभावाप्रकारकत्व' अंश के घटक स्वरूप

अभावप्रकारता में 'जो अवच्छेदकता स्वरूप न हो या अवच्छेदकता से अवच्छिन्न न हो अथवा 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धति के ज्ञान की प्रकारता से भिन्न हो' – इतना परिष्कार करना चाहिए।

[सु.१२२] 'विशेषण अंश में ही 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धतिवाला ज्ञान होता है तथा विशेष्य अंश में ही संशय होता है' – इस प्रकार का नियम होने के कारण 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धतिवाले ज्ञान की अभावप्रकारता अवच्छेदकता स्वरूप होती है अथवा अवच्छेदकता से अवच्छिन्न होती है किन्तु उस से भिन्न नहीं होती है। मुख्य विशेष्य से भिन्न ऐसे विशेषण में संशय नहीं होता है। अतः संशय की घटक स्वरूप जो अभावप्रकारता होती है वह अच्छेदकता स्वरूप अथवा अवच्छेदकता से अवच्छिन्न नहीं होती है।[५३] 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धति का ज्ञान तथा संशय एक दूसरे से अलग स्वरूपवाले हैं। इसी कारण से संशय की प्रकारता 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धतिवाले ज्ञान की प्रकारता से भिन्न होती है। निष्कर्ष के रूप में – 'जिस धर्म का संशय नहीं है वह धर्म जिस में प्रकार रूप में भासित होता हो वह ज्ञान ही निश्चय है' – ऐसा निश्चय का लक्षण फलित होता है।

[सु.१२३] 'संशये प्रकारस्य कोटिरिति नाम' (संशय के विषय में प्रकार को 'कोटि' कहा जाता है) – इस मूलांश के द्वारा यह सूचित किया गया है कि संशय सम्बन्धी प्रकारता 'कोटित्व' नाम से जानी जाती है।

[सु.१२४] मूल में संशय के स्वरूपवर्णन के प्रसंग पर – 'तत्तदभावश्चोभयमेव भासते'–ऐसी जो पंक्ति है उस के साथ 'एकत्र मुख्यविशेष्ये प्रकारतया' – इतना वाक्यखण्ड जोड़ देना चाहिए। अब पूरे वाक्य का अर्थ ऐसा होगा – जहाँ एक ही मुख्य विशेष्य में वह धर्म और उस धर्म का अभाव – ये दोनों प्रकार रूप में भासित होते हों, उसे संशय कहा जाता है। यदि 'एकत्र मुख्यविशेष्ये प्रकारतया'–इतना अंश नहीं जोड़ते हैं तो – 'वह्नि और उसका अभाव' 'पर्वत वह्निवाला है, जल वह्नि के अभाववाला है' 'वह्नि और वह्नि के अभाव वाले पर्वतवाला देश है'–इत्यादि अनेक स्थलों पर ऊपर कहे गये संशय के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि ऊपर कहे गये तीन में से प्रथम ज्ञान में वह्नि और वह्नि का अभाव प्रकार रूप में भासित होने के बावजूद विशेष्य में प्रकार रूप में भासित नहीं होते हैं। द्वितीयज्ञान में विशेष्य में वह्नि और वह्नि

का अभाव प्रकार रूप में भासित होने के बावजूद एक ही विशेष्य में प्रकार रूप में भासित नहीं होते हैं। तृतीयज्ञान के स्थल में पर्वत स्वरूप एक ही विशेष्य में वह्नि और उसका अभाव प्रकार रूप में भासित होने के बावजूद, 'एकत्र द्वयम्' (= एक जगह दो) इस रीति से ज्ञान होने के कारण पर्वत में मुख्यविशेष्यता का अभाव होने से अतिव्याप्ति नहीं होती है। 'एकत्र मुख्यविशेष्ये प्रकारतया'–इस जोड़े हुए अंश का भी सामान्य अर्थ ग्रहण न करके – 'एक जगह मुख्यविशेष्यता से निरूपित प्रकार के रूप में (वह धर्म और उस धर्म का अभाव भासित होता हो वह संशयज्ञान है) – ऐसा अर्थ करना चाहिए। अन्यथा 'पर्वत वह्निवाला है और वह्नि के अभाववाला है' इत्यादि समूहालम्बनज्ञान में अतिव्याप्ति होती है।[५४]

[सु.१२५] विश्वनाथ न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य ने भाषापरिच्छेदकारिका में – 'स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः' (= एक जगह पर एक ही धर्म के भाव और अभाव की बुद्धि होना, संशय कहा जाता है) – इस प्रकार जो संशय के स्वरूप का वर्णन किया है, उसका तथा अन्य स्थल में जो एक धर्मी से घटित संशय का लक्षण किया गया है उसका भी ऊपर कहे गये अनुसार ही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। मुक्तावली की दिनकरी टीका के कर्त्ता महादेवभट्ट ने अपनी टीका में दूसरे प्रकार से संशय के स्वरूप का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है – 'अपनी एक कोटिप्रकारता से अवच्छिन्न प्रतिबध्यता से निरूपित जो प्रतिबन्धकता, उस प्रतिबन्धकता की अवच्छेदकीभूत जो दूसरी कोटिप्रकारता, उस प्रकारता वाला ज्ञान ही संशय है ऐसा जानना चाहिए।'

[सु.१२६] 'संशयत्व एक जातिविशेष हैं' – इस मत का खण्डन करने के लिए महादेवभट्ट ने कहा है कि – 'यत्तु संशयत्वं जातिविशेष इति, तन्न, चाक्षुषत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्' तथा 'सङ्करश्च परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण–योरेकत्र समावेशः' अर्थात् 'संशयत्व एक जातिविशेष हैं' ऐसा जो कहा जाता है, वह योग्य नहीं है। क्योंकि संशयत्व को जाति मानने पर चाक्षुषत्व आदि जाति के साथ सङ्करदोष होने का प्रसंग होता है। एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरण में रहने वाले दो धर्मों का एक अधिकरण में रहना ही सङ्करदोष हैं।

मूल ग्रन्थ में जहाँ समूहालम्बनज्ञान की चर्चा है, वहाँ पाद टिप्पण में जो –

'एकत्रद्वयम्' इति रीत्या बहूनि विशेषणानि प्रतीयन्ते – ऐसा जो अंश कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि – 'एकत्र द्वयम्' इस रीति से होनेवाले ज्ञान में जिस प्रकार एक ही विशेष्य में एक से अधिक धर्म प्रकार रूप में भासित होते हैं, उस प्रकार इस समूहालम्बनज्ञान में भी एक ही विशेष्य में एक से अधिक धर्म प्रकार रूप में भासित होते हैं। किन्तु यह समूहालम्बन ज्ञान 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धति से होनेवाले ज्ञान स्वरूप नहीं होता। वह 'एकत्र द्वयम्' रीति से होनेवाला ज्ञान नैयायिकदर्शन में एक विशिष्ट पारिभाषिक ज्ञान है। उसमें एक ही विशेष्यता होती है और समूहालम्बन ज्ञान में एक से ज्यादा विशेष्यताएँ होती हैं – इस प्रकार उन दोनों प्रकार के ज्ञान में विलक्षणता रहती है।

❊ टिप्पणी ❊

५२. प्रस्तुत टीकांश में 'वह्निमान् वह्न्यभाववान् च पर्वतः' इस निश्चय में अव्याप्ति का वारण करने के लिए निश्चय के लक्षण में परिष्कार करके – एकविशेष्यता से निरूपित ऐसी तद्धर्म और तदभाव इन दोनों की प्रकारता जिसमें भासित न होती हो वह ज्ञान निश्चय है – ऐसा कहा गया है। यह परिष्कार गदाधर के मत में ही संगत होता है। क्योंकि गदाधर के मत में पर्वत में दो विशेष्यताएँ रहती हैं – जो एक दूसरे की अवच्छेद्य–अवच्छेदक होती हैं। अतः इस मत में तद् और तदभाव की प्रकारता एकविशेष्यता से निरूपित नहीं होने के कारण निश्चय का लक्षण संगत हो जाता है। किन्तु जगदीशादि ग्रन्थकारों के मत में पर्वत में रही हुई दोनों विशेष्यताएँ एक दूसरे से अभिन्न मानी जाती हैं। अतः दोनों प्रकारता एक विशेष्यता से निरूपित हो जाने के कारण निश्चय का लक्षण संगत नहीं होता है।

५३. 'एकत्र द्वयम्' इस पद्धति के ज्ञान की अभावीय प्रकारता अवच्छेदकता स्वरूप अथवा अवच्छेदकता से अवच्छिन्न होती है। इसका कारण यह है कि प्रकार को अवच्छेदक भी कहा जाता है। किन्तु उसी प्रकार को अवच्छेदक माना जा सकता है जो निश्चित या प्रमाणित हो। प्रस्तुत ज्ञान निश्चयात्मक है। अतः उसका प्रकार अवच्छेदक कहा जा सकता है। अब प्रकार में प्रकारता के साथ अवच्छेदकता भी रहेगी। जगदीश के मत में एकत्र स्थित दो धर्म अभिन्न होते हैं। उस मत में यह प्रकारता अवच्छेदकता स्वरूप बनेगी। गदाधर के मत में एकत्र स्थित दो धर्म एक दूसरे से अवच्छिन्न होते हैं। उस मत में यह प्रकारता

अवच्छेदकता से अवच्छिन्न हो जायेगी। किन्तु संशय में स्थित अभावीय प्रकारता में ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि वह प्रकार – अनिश्चित ऐसे संशय ज्ञान का प्रकार होने के कारण उस प्रकार को अवच्छेदक ही नहीं माना जा सकता।

५४. 'तत्तदभावश्चोभयमेव भासते' – इस संशय के लक्षण में 'एकत्र मुख्यविशेष्ये प्रकारतया' – इतना अंश जोड़ने के बाद भी 'पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभाववान् च' इस समूहालम्बन ज्ञान में संशय के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि प्रस्तुत समूहालम्बन ज्ञान में एक ही मुख्य विशेष्यता है तथा उस में वह्नि और उसके अभाव की प्रकारता भासित हो रही है। अतः लक्षण में जो परिष्कार जोड़ा गया था, उसका अर्थ – 'एकत्र मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता के रूप में भासित होते हों' – ऐसा करना चाहिए। पर्वत में दो प्रकारता होने के बावजूद दोनों प्रकारताएँ मुख्यविशेष्यता से निरूपित नहीं होती हैं। अतः अब प्रस्तुत निश्चयज्ञान में संशय के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

॥ इस प्रकार महेशचन्द्र न्यायरत्न कृत '**नव्यन्यायभाषाप्रदीप**' एवं कालीपद तर्काचार्यकृत '**सुप्रभा**' टीका का, तपागच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामसूरीश्वरजी महाराजा** (डहेलावाला) के अन्तेवासी शिष्यरत्न आचार्यदेव श्रीमद् विजय **जगच्चन्द्रसूरीश्वरजी महाराज** की शुभ आज्ञा–आशीर्वाद से पंन्यास श्री **कल्पज्ञविजयजी महाराज** के शिष्य मुनि **नयज्ञविजय** के द्वारा किया हुआ और मुनिराज श्री **विश्वचंद्रविजयजी** द्वारा संशोधित किया गया सटिप्पण–हिन्दी अनुवाद सानन्द सम्पूर्ण हुआ॥

❖ परिशिष्टप्रकरणस्य विषयानुक्रमः

	पृष्ठाङ्कः
लक्षण–लक्षणप्रकरणम् ।	१६१
अव्याप्तिदोषनिरूपणम् ।	१६१
असम्भवदोषनिरूपणम् ।	१६२
अतिव्याप्तिदोषनिरूपणम् ।	१६२
हेत्वाभासनिरूपणम् ।	१६२
हेतुदोषरूपार्थकल्पे हेत्वाभासस्य लक्षणम् ।	१६२
पञ्चानां हेतुदोषानां निदर्शनम् ।	१६४
दुष्टहेत्वर्थकत्वपक्षे हेत्वाभासस्य लक्षणम् ।	१६४
प्रतिबन्धकपदार्थस्य निरूपणम् ।	१६५
उत्तेजकलक्षणम् ।	१६५
भ्रम लक्षणम् ।	१६६
आहार्यज्ञाननिरूपणम् ।	१६६
नियताहार्यज्ञानलक्षणम् ।	१६६
अनियताहार्यज्ञानलक्षणम् ।	१६६
हेतुपदार्थनिरूपणम् ।	१६७
ज्ञापकहेतुलक्षणम् ।	१६७
जनक(कारण)हेतुलक्षणम् ।	१६८
अन्यथासिद्धपदव्युत्पत्तिः ।	१६८
कार्यलक्षणम् ।	१६८

फलोपधायककारणलक्षणम् । १६९

स्वरूपयोग्यकारणलक्षणम् । १६९

असमवायिकारणलक्षणम् । १७०

कार्यैकार्थप्रत्यासत्तेः स्वरूपम् । १७०

कारणैकार्थप्रत्यासत्तेः स्वरूपम् । १७०

अन्यतरशब्दस्य अर्थनिरूपणम् । १७१

अन्यतमशब्दस्य अर्थनिरूपणम् । १७२

निमित्तकारणलक्षणम् ।

रामरुद्रीयव्याख्यानुसारेण समवायिकारणासमवायिकारणयोः लक्षणम् । १७३

ध्वंसात्मककार्यस्थले निमित्तकारणलक्षणसङ्गमनम् । १७४

नव्यन्यायभाषाप्रदीपस्य

परिशिष्टप्रकरणम्

नव्यन्यायभाषाप्रदीपस्य

परिशिष्टप्रकरणम्

लक्षण–लक्षणप्रकरणम्–लक्ष्यते वस्तु येनेति व्युत्पत्त्या करणसाधनोऽयं लक्षणशब्दः । तदर्थस्वरूपञ्च लक्ष्यस्य असाधारणो धर्म इति । लक्ष्यस्य असाधारणो धर्मश्च लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मः । स च प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यः सन् प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकव्यापकः, प्रकृतलक्ष्येतरावृत्तिः सन्–सकलप्रकृतलक्ष्यवृत्तिरिति यावत् । यथा गोः सास्नावत्त्वं (गलकम्बलवत्त्वम्) लक्षणम् । तद्धि गोत्वरूपस्य प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकस्य व्याप्यं व्यापकञ्च । एवमन्यत्रापि ।

लक्षणस्य लक्ष्यस्य तत्तद्विशेषरूपेण व्यवहारः लक्ष्येतरभिन्नत्वेनानुमानञ्चेति फलद्वयमस्ति । तेन लक्षणं व्यवहारौपयिकं इतरभेदानुमापकञ्चेति द्विधा व्यपदिश्यते ।

लक्षणेन लक्ष्ये इतरभेदानुमाने लक्ष्यं वस्तु पक्षः, इतरभेदः साध्यः, लक्षणञ्च हेतुः । यथा गौर्गवितरभिन्ना सास्नावत्त्वलक्षणवत्त्वादित्यत्र प्रकृतलक्ष्यभूतो गोपदार्थः पक्षः, गोरूपलक्ष्येतरभेदः साध्यः, सास्नावत्त्वरूपं लक्षणं हेतुः । एवं सर्वत्र बोध्यम् ।

कस्यापि धर्मस्य लक्षणत्वेनोपन्यासावसरे तत्र विशेषतो विचार्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवानां दोषाणां वर्जनं कार्यम् । लक्षणत्वेनाभिमतस्य धर्मस्य तद्दोषान्यतमदोषाक्रान्तत्वे तस्य लक्षणत्वमेव नोपपद्यते । तथा हि–

अव्याप्तिर्नाम लक्षणत्वेनाभिमतस्य धर्मस्य लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वं, किञ्चल्लक्ष्यवृत्तित्वे सति किञ्चिल्लक्ष्यावृत्तित्वमिति । तच्च लक्ष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वमिति वा । असम्भवस्थले अतिप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम् । तद्दोषग्रस्तो लक्षणत्वाभिमतो धर्मो यथा–गोः कपिलात्वं, कपिला नाम गोविशेषः । अतः कपिलात्वं

कपिलायामेव गवि, नान्यत्र गोविशेषे । प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकस्य गोत्वस्य तत्रोभयत्रैव सत्त्वात् कपिलात्वस्य धर्मस्य प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वा-भावेन तस्य गोलक्षणत्वं न भवितुमर्हतीति भावः ।

असम्भवो नाम लक्षणत्वेनाभिमतस्य धर्मस्य निखिललक्ष्येष्ववर्तमानत्वम् । निखिलेत्यनेन लक्ष्यस्य विशेषणादव्याप्तावसम्भवलक्षणस्यातिव्याप्तिनिरासः । तद्दोषाक्रान्तस्य लक्षणत्वाभिमतधर्मस्योदाहरणं यथा-गोः लक्षणत्वेन प्रस्तुतम्, प्रतिचरणमेकैकमात्रखुरविशिष्टत्वम् । तस्यापि प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वाभावादेव न निरुक्तलक्षणत्वसम्भवः ।

अतिव्याप्तिर्नाम लक्ष्यातिरिक्तवृतित्वम् । तद्दोषाक्रान्तधर्मस्य उदाहरणं यथा-गोर्लक्षणत्वेनाभिमतं शृङ्गित्वादिकम् । तथाभूतस्य धर्मस्य प्रकृतलक्ष्यतावच्छेदकगोत्वव्याप्यत्वाभावादेव न गोलक्षणत्वम् ।

इत्थञ्च लक्षण-लक्षणार्थविचारेण अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवेति त्रितयदोषरहितधर्मस्यैव लक्षणत्वमिति पर्यवस्यति ।

लक्षणस्य व्यवहारसाधनत्वे अव्याप्तिदोषाक्रान्तत्वे असम्भवदोषाक्रान्तत्वे वा तत्तल्लक्षणाभाववति लक्ष्ये तत्तल्लक्षणेन विशेषव्यवहारानुपपत्तिः । अतिव्याप्तिदोषाक्रान्तलक्षणस्थले लक्ष्यभिन्ने तादृशलक्षणवति लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण व्यवहारापत्तिः ।

लक्षणस्य इतरभेदानुमापकत्वे अव्याप्तिदोषग्रस्तस्य लक्षणस्य इतरभेदानुमाने भागासिद्धिः । असम्भवदोषग्रस्तस्य स्वरूपासिद्धिः । अतिव्याप्तिदोषग्रस्तस्य च व्यभिचारो दोषः । विस्तरः स्वयमूहनीयः । उक्तस्वरूपासिद्धिव्यभिचारौ हेत्वाभासान्तर्गतौ ।

हेत्वाभासाः-हेतोराभासाः, हेतुवदाभासन्ते वा इति व्युत्पत्तिभेदेन अनुमापकहेतोर्दोषा दुष्टहेतवो वा हेत्वाभासपदार्थः । हेतुदोषरूपार्थकल्पे तल्लक्षणं यथा- यद्रूपावच्छिन्नविषयकनिश्चयसामान्यं प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकं तद्रूपावच्छिन्नत्वं हेत्वाभासत्वम् । यद्रूपपदेन 'वह्निमान् ह्रदः' इत्यादौ वह्न्यभावविशिष्टह्रदत्वादिरूपो दोषतावच्छेदकधर्मो ग्राह्यः । तदवच्छिन्नविषयता वह्न्यभाववान् ह्रद इत्यादिरूपप्रमाज्ञाननिरूपिता ह्रदत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यतैव तस्यास्तदतिरिक्तत्वकल्पने गौरवात् । निरुक्तह्रदत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताया वह्न्यभावविशिष्टह्रदत्वादिरूपविशिष्टधर्मावच्छिन्नत्वस्वीकारे मानञ्च 'वह्न्य-

भाववान् ह्रद' इत्यादि ज्ञानं विषयितासम्बन्धेन वह्न्यभावविशिष्टह्रदत्वा-वच्छिन्नवत्' इति प्रतीतिरेव। तथाहि-तद्धर्मावच्छिन्नविषयतानिरूपिता विषयितैव तद्धर्मावच्छिन्नस्य सम्बन्धः, अतः प्रकृतस्थले तादृशरूपावच्छिन्नस्य सम्बन्धत्वे-नाभिमता विषयता तादृशरूपावच्छिन्नविषयतानिरूपिता न स्यात्, तदा सा तादृशरूपावच्छिन्नस्य सम्बन्धो न स्यात् । भवति चात्र प्रतीतौ विषयिता तादृशरूपावच्छिन्नस्य सम्बन्धः । अतएव निरुक्तविषयितानिरूपकविषयतायां तद्रूपावच्छिन्नत्वसिद्धिः ।

यथाश्रुतस्य निरुक्तहेत्वाभासलक्षणस्य संक्षिप्तार्थस्तु यद्रूपावच्छिन्नविषयता-कनिश्चयत्वव्यापकं प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकत्वं तद्रूपवत्त्वम् हेत्वाभासत्वम् (हेतुदोषत्वम्) । उदाहरणं यथा 'वह्निमान् ह्रद' इत्याद्यनुमानस्थले वह्न्यभाववद् ह्रद इत्यादिः । तथाहि 'वह्न्यभाववान् ह्रद' इत्येवं वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्नविषयकनिश्चयः 'वह्निमान् ह्रद' इत्यनुमिति-सामान्यप्रतिबन्धकः अतस्तत्र वह्न्यवभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्नो दोषः। एवमन्यत्रापि।

प्रकृतनिश्चये अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितत्वानाहार्यत्वादिकं विशेषणं देयम् । अन्यथा 'वह्न्यभाववान् ह्रद' इति ज्ञानमप्रभा इत्येवमप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितस्य 'ह्रदो वह्न्यभाववान् वह्निमांश्च' इत्येवमाहार्याकारकस्य वा 'वह्न्यभाववान् ह्रद' इति निश्चयस्य 'वह्निमान् ह्रद' इत्यनुमितिप्रतिबन्धकत्वाभावादसम्भवापत्तेः ।

अनुमितिश्चात्र 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः साध्यवांश्च' इत्येवं समूहालम्ब-नाकारा ग्राह्या । अन्यथा व्यभिचारत्वाद्यवच्छिन्नविषयकनिश्चयसामान्यस्य 'साध्यवान् पक्ष' इत्याकारानुमितिसामान्यप्रतिबन्धकत्वाभावेन व्यभिचारादाव-व्याप्तेः । न चैवं 'साध्यव्याप्याभाववत् पक्षरूपविशिष्ट अतिव्याप्त्यापत्तिः । तादृशविशिष्टस्य व्याप्यत्वासिद्धिरूपदोषत्वाङ्गीकारेण दोषपरिहारात्।

परे तु तत्रातिव्याप्तिपरीहाराय प्रकृतानुमितिं 'साध्यव्याप्यो हेतुः, हेतुमान् पक्षः, पक्षः साध्यवान्' इत्येवं त्रिखण्डाकारामभ्युपगच्छन्ति। उक्तरूपामनुमितिं प्रति उक्तविशिष्टविषयकनिश्चयो न प्रतिबन्धकः ।

'ह्रदो वह्निमानि'त्याद्यनुमितिस्थले 'ह्रदो वह्निमान् जलाभाववांश्च' इत्यादि समूहालम्बनानुमितिनिष्ठजलाभावप्रकारकह्रदविशेष्यकत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यता-निरूपितप्रतिबन्धकताया जलवद्ह्रदत्वावच्छिन्नविषयकनिश्चयत्वव्यापकत्वादति-व्याप्तिवारणाय प्रतिबध्यतायां व्यापकत्वनिवेशः ।

उक्तहेत्वाभासलक्षणोपरि सूक्ष्मेक्षिकया सम्भाविता अपरे दोषाः तत्समाधानप्रकारभेदाश्च हेत्वाभाससामान्यनिरुक्तिप्रकरणीयगदाधरभट्टाचार्य-कृतविवृतिग्रन्थादिभ्य एव विशेषजिज्ञासुभिः प्रतिपत्तव्याः ।

ते च हेतुदोषाः पञ्चविधाः । व्यभिचारविरोधासिद्धि-बाधसत्प्रतिपक्षभेदात् । व्यभिचारो यथा- धूमवान् वह्नेरित्यादौ धूमाभाववद्वृत्तिवह्न्यादिः । विरोधो यथा- गोत्ववान् अश्वत्वादित्यादौ गोत्वासमानाधिकरणाश्वत्वादिः । निरुक्त-लक्षणघटकानुमितौ हेत्वंशे साध्याभाववदवृत्तित्वं हेतुव्यापकसाध्य-सामानाधिकरण्यं चेति द्विविधान्वयव्याप्तिनिवेशाद् उक्तव्यभिचारविरोधज्ञानयोः प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकत्वात् ।

असिद्धिदोषो यथा- ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाभाववद्ह्रदादिः ।

सत्प्रतिपक्षदोषो यथा-ह्रदो वह्निमानित्यादौ वह्न्यभावव्याप्यवद्ह्रदादिः । बाधदोषश्चतत्रैव वह्न्यभाववद्ह्रदादिः ।

अत्र विशेषत एतदवधेयं यत्-बाधसत्प्रतिपक्षव्यतिरिक्तव्यभिचारविरोधा-सिद्धिरूपदोषत्रयस्थलेषु तत्र यद्वान् यो यद्दोषः तत्र तद्व्याप्यवान् अपि स तद्दोष एव । यथा- धूमाभाववद्वृत्तिवह्निरित्यत्र धूमाभाववद्वृत्तित्वव्याप्यवद्-वह्निः, इत्यपि व्यभिचारः, ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाभावव्याप्यवद्ह्रद इत्यपि असिद्धिः, गोत्वासमानाधिकरणमश्वत्वमित्यत्र गोत्वासामानाधिकरण्य-व्याप्यवदश्वत्वमित्यपि विरोध एव । बाधसत्प्रतिपक्षस्थलयोस्तु न तथा । तत्र वह्न्यभाववद्ह्रदादिः बाधः, न तु तत्र वह्न्यभावव्याप्यवद्ह्रदादिरपि बाधः, किन्तु सत्प्रतिपक्षरूपदोषान्तरम् । तथा साध्याभावव्याप्यवत्पक्षः सत्प्रतिपक्षः, न तु साध्याभावव्याप्यव्याप्यवत् पक्षोऽपि तन्निश्चयस्य तत्स्थलीयप्रकृतानुमित्य-प्रतिबन्धकत्वात् ।

उक्तपञ्चविधहेतुदोषाणामवान्तरभेदादिकं सर्वमाकरेभ्यो ज्ञातव्यम् ।

हेत्वाभासपदस्य दुष्टहेत्वर्थकत्वपक्षे लक्षणञ्च स्वज्ञानविषयप्रकृतहेतुता-वच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन तादृशदोषवत्त्वम् । प्रकृतदोषेण सह प्रकृतहेतोः समूहालम्बनज्ञानमादाय प्रकृतसम्बन्धोपपत्तिः । ते च दुष्टहेतवः- यथायथं सव्यभिचारविरुद्धासिद्धसत्प्रतिपक्षितबाधिता इति पञ्चसंज्ञाभिरभिधीयन्ते । अन्यत् सर्वमाकरेभयो विशेषसाम्प्रदायिकपत्रिकादिभ्यश्च ज्ञेयम् ।

प्रतिबन्धकत्वम्–प्रतिबध्नाति बाधते यः स प्रतिबन्धकः, तस्य भावः प्रतिबन्धकत्वम् । तच्च कारणीभूताभावप्रतियोगित्वम्, कार्यानुत्पादप्रयोजकत्वम्, स्वरूपसम्बन्धविशेषो वा। यो यस्य कार्यस्य प्रतिबन्धकः, तदभावस्तस्य कारणम्, अतः प्रतिबन्धके वस्तुनि कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं घटते। सत्स्वपि कार्यस्य क्लृप्तेषु समग्रेषु कारणान्तरेषु प्रतिकबन्धकवस्तुसत्त्वे कार्यं नोत्पद्यत इति प्रतिबन्धकस्य कार्यानुत्वादप्रयोजकत्वमप्यस्ति । यथा–वह्निः करादिगतः करादेर्दाहं जनयति, परमस्ति कश्चिदेवम्भूतो मणिर्यः करादौ स्थितः सन् सत्यपि करादौ वह्नेः सम्बन्धे तत्र दाहं बाधते, तदभावे च सति तत्र वह्निर्दाहं जनयति। स एष मणिः दाहप्रतिबन्धको मणिरुच्यते। अस्ति चापरः कोऽप्येवम्भूतो मणिः यस्मिन् करादौ वर्तमाने सति तत्र प्रतिबन्धको मणिः दाहं न प्रतिबध्नाति, परं तत्र दाहो भवत्येव। अतस्तादृशमण्यभावविशिष्टस्यैव प्रतिबन्धकमणेर्दाहप्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते। निरुक्तप्रतिबन्धकताकुक्षौ प्रतिबन्धकमण्यंशे विशेषणीभूतस्य अभावस्य प्रतियोगिभूतोऽसौ मणिः 'उत्तेजकः' मणिरित्युच्यते प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूता-भावप्रतियोगित्वमुत्तेजकत्वमिति प्रतिबन्धकताकुक्षावुत्तेजकलक्षणात्।

एवं ज्ञानस्थले विशिष्टज्ञानं प्रति बाधनिश्चयः अभावव्याप्यवत्तानिश्चयश्च प्रतिबन्धकः–तथाहि वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्यादिरूपपरामर्शप्रमुखक्लृप्त-कारणकलापसमवधानेऽपि यदि तत्र वह्न्यभाववान् पर्वतः अथवा वह्न्यभावव्याप्यवान् पर्वतः इत्यादिरूपः निश्चयः संघटितः स्यात् तदा तत्र 'पर्वतो वह्निमान्' इत्येवमनुमित्यात्मकं कार्यभूतं विशिष्टज्ञानं न स्यात् । तत्र बाधनिश्चयः बाधव्याप्यवत्तानिश्चयो वा प्रतिबन्धकः, विशिष्टज्ञानञ्च प्रतिबध्यम्। बाधनिश्चये प्रतिबन्धकत्वं विशिष्टज्ञाने च प्रतिबध्यत्वम् । तयोः परस्परं निरूप्यनिरूपकभावः। यथा–प्रतिबन्धकतानिरूपिता प्रतिबध्यता, प्रतिबध्यता-निरूपिता च प्रतिबन्धकतेति। तत्तदभावनिश्चयः तत्तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयो वा यदि अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितो भवति तदा स स निश्चयः तत्तद्वत्ताबुद्धिं न प्रतिबध्नाति । तथा हि यदा ह्रदो वह्न्यभाववान् वह्न्यभावव्याप्यवान् वा इति ज्ञानधर्मिकम् 'इदं ज्ञानम् अप्रमा' इत्येवमप्रामाण्यज्ञानं तदुत्तरं ह्रदो वह्निमानित्येवं ह्रदधर्मिकः वह्निमत्ताज्ञानं भवत्येव। तदभावे तु न भवति । अतः प्रतिबन्ध-कत्वेनाभिमते अभावनिश्चये अभावव्याप्यवत्त्वनिश्चये च अप्रामाण्यज्ञानाभावो

विशेषणरूपेण निवेश्य प्रतिबन्धकता निर्वाच्या, स चाभावः विशेष्यत्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन ग्राह्यः। सामानाधिकरण्यञ्च तत्र एकक्षणावच्छिन्नैकात्मवृत्तित्वम्, तेन कालान्तरे पुरुषान्तरे वा अप्रामाण्यज्ञानमादाय ज्ञानान्तरविशेष्यकाप्रामाण्यज्ञानमादाय वा न दोषः। तत्र अप्रामाण्यम् अप्रमात्वं भ्रमत्वमिति यावत् । तच्च तदभाववति तत्प्रकारकत्वम्। यथा–वह्निमान् ह्रद इति ज्ञाने वह्न्यभाववति ह्रदे वह्निप्रकारकत्वम्। वह्निव्याप्यवान् ह्रद इत्यत्र च वह्निव्याप्याभाववति ह्रदे वह्निप्रकारकत्वम्। तत्र निरुक्ताप्रामाण्यज्ञानं यथार्थम्। पर्वतो वह्निमान् पर्वतो वह्निव्याप्यवानित्युभयत्रैव अप्रामाण्यज्ञानमयथार्थम्, तदुभयविधमेव अप्रामाण्यज्ञानं संशयात्मकं निश्चयात्मकं वा, निश्चयत्वेन प्रतिबन्धकतास्थले निर्विशेषेण अप्रामाण्यज्ञानत्वेनोत्तेजकम्। अतः वह्न्यभाववान् ह्रद इति निश्चयदशायां 'इदं ज्ञानमप्रमा' 'इदं ज्ञानमप्रमा न वा' इति निश्चयसंशययोरन्यतरस्य सत्त्व एव न 'वह्निमान् ह्रद' इति ज्ञानानुत्पादः। 'यत्र निश्चयत्वेन प्रतिबन्धकता कारणता वा तत्र ज्ञानत्वेन अप्रामाण्यज्ञानस्य उत्तेजकता, यत्र च तदन्यरूपेण ज्ञानस्य प्रतिबन्धकता कारणता वा तत्र ज्ञानत्वमात्रेण अप्रामाण्यज्ञानस्य उत्तेजकता' इति नियमात्।

एवं आहार्याकारकः विपरीतनिश्चयः अभावव्याप्यवत्ता–निश्चयो वा न विशिष्टबुद्धौ प्रतिबन्धकः। यथा–निर्वह्निर्वह्निमान् इति निश्चयः न वह्न्यभाववान् निर्वह्निरिति बुद्धिं प्रतिबध्नाति पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभाववांश्च इति निश्चयस्य प्रतिबध्नाति पर्वतो वह्निमान् इति बुद्धिं पर्वतो वह्न्यभाववानिति बुद्धिं वा।

निर्वह्निर्वह्निमानिति ज्ञानस्य नियताहार्यत्वात् पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभाववांश्च इत्यस्य च ज्ञानस्य अनियताहार्यत्वात्। स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकज्ञानं नियताहार्यम्। निर्वह्निर्वह्निमान् इति ज्ञाने च वह्निविरोधि वह्न्यभावरूपं निर्वह्नित्वं विशेष्यतावच्छेदकापरपर्यायं धर्मितावच्छेदकम्, वह्निश्च प्रकारः। अतस्तत्र नियताहार्यलक्षणसमन्वयः।

अनियताहार्यत्वं साधारणाहार्यत्वं वा–बाधनिश्चयविशिष्टत्वे सति इच्छाविशिष्टप्रत्यक्षत्वम्। आहार्यत्वेनाभिमते प्रत्यक्षे बाधनिश्चयवैशिष्ट्यञ्च स्वाधिकरणसुखवृत्तित्वस्वसामानाधिकरण्यस्वाव्यवहितप्राक्क्षणवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन। इच्छावैशिष्ट्यञ्च स्वाव्यवहितोत्तरत्वस्वसामानाधिकरण्यस्वविशेष्यत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन। लक्ष्येषु लक्षणसङ्गमनसम्बन्धव्यावृत्यादिकं सावधानमूहनीयम्।

आहार्यं ज्ञानं यथा प्रतिबन्धकं न भवति तथा प्रतिबध्यमपि न भवति। अतः यत्र आदौ पर्वतो वह्न्यभाववान् इति बाधनिश्चयः, अनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानं जायताम् इति इच्छा, तदनन्तरक्षणे पर्वतो वह्निमानिति आहार्यज्ञानं जायते न तु प्राक्तनेन बाधनिश्चयेन प्रतिबध्यते, निरुक्तसामान्याहार्यलक्षणा-क्रान्तत्वात्।

आहार्यज्ञानवत् लौकिकसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं तथा दोषविशेषजन्यं ज्ञानं न बाधनिश्चयादिना प्रतिबध्यते । तथाहि यत्र केनापि कारणेन घटाभाववद्भूतलमिति निश्चयो जातः, अथ भूतलवृत्तौ घटे जातेन चक्षुःसंयोगरूपलौकिकसन्निकर्षेण घटवदभूतलमिति जायमानं न प्राक्तनेन बाधनिश्चयेन प्रतिरुद्धं भवति । अतः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनायां प्रतिबध्यज्ञानांशे लौकिकसन्निकर्षाजन्यत्वं विशेषणं देयम्। तेन प्रागुक्तज्ञानस्य लौकिकसन्निकर्षजन्यत्वात् न बाधनिश्चयेन प्रागुक्तेन प्रतिरोधः ।

एवं शङ्खः पीतत्वाभाववान् सुदृढ़निश्चये सत्यपि पित्तप्रभावप्रभव-कामलादिदोषेण शङ्खः पीतत्ववानिति ज्ञानं भवति। अतो दोषविशेषाजन्यत्वमपि प्रतिबध्यज्ञाने विशेषणं निवेश्यम् । अत उक्तस्थले शङ्खे पीतत्वबोधस्य कामलरूपदोषविशेषजन्यत्वात् न प्रागुक्तबाधनिश्चयेन प्रतिबन्धः । निरुक्त-विशेषणद्वयस्य एकोक्त्या सङ्ग्रहार्थं लाघवार्थञ्च प्रतिबध्यज्ञानांशे साक्षात्-कारित्वव्यञ्जकविषयिताशून्यत्वं विशेषणं देयम्। यस्य ज्ञानस्य 'साक्षात्करोमि' इत्याद्याकारानुव्यवसायो भवति तत्रैव साक्षात्कारित्वव्यञ्जकविषयिता स्वीक्रियते। लौकिकसन्निकर्षजन्यस्य तथा दोषविशेषजन्यस्य ज्ञानस्य 'साक्षात्करोमी' त्याद्याकारानुव्यवसायात् तत्रोभयत्रैव साक्षात्कारित्वव्यञ्जकविषयितासत्त्वेन न तच्छून्यत्वरूपप्रकृतप्रतिबध्यतावच्छेदकधर्माक्रान्तत्वम्। लौकिकसन्निकर्षविशेषा दोषविशेषाश्च आकरादिभ्यो ज्ञातव्याः ।

हेतुः-हेतुपदार्थो द्विविधः, ज्ञापको जनकश्च । ज्ञापकत्वं नाम ज्ञानजनक-ज्ञानविषयत्वम् । उदाहरणं यथा-वह्निमान् धूमादित्यादौ वह्न्याद्यनुमिति-रूपज्ञानजनकज्ञानविषयो धूमः। ज्ञायमानस्य धूमादेः कारणत्वमते तु ज्ञापकत्वं ज्ञानजनकत्वमेव। वह्निमान् धूमादित्यादौ वह्निव्याप्यो धूमः इति व्याप्तिज्ञानस्य वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्यादिपरामर्शस्य च वह्न्यनुमितिरूपसाध्य-ज्ञानजनकत्वात् धूमादिरूपहेतुविषयकत्वाच्च धूमादेर्ज्ञापकत्वरूपहेतुत्वम्।

जनको हेतुश्च कारणरूपः । कारणत्वञ्च अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववर्तित्वम्। अन्यथा अन्यप्रकारेण कार्यस्य क्लृप्तकारणभिन्नत्वरूपेण सिद्धाः प्रसिद्धा इति कथञ्चिदन्यथासिद्धपदव्युत्पत्तिः शक्यवचना। न अन्यथासिद्धा इति अनन्यथासिद्धाः । प्रकृतान्यथासिद्धप्रकारभेदा आकरग्रन्थेभ्यो ज्ञातव्याः ।

निखिलान्यथासिद्धगतानुगतधर्मस्य निर्वक्तुमशक्यतया प्रकृतलक्षणे तत्तदन्यथासिद्धव्यक्तिभेदकूटवत्त्वे सतीति सत्यन्तदलार्थः प्रतिपत्तव्यः । न च केवलमनन्यथासिद्धत्वमेव कारणलक्षणमस्तु किं कार्यनियतपूर्ववर्तित्वरूप-विशेष्यांशप्रवेशेनेति वाच्यम्। भेदकूटलाघवाय तन्निवेशस्यावश्यकत्वात्। तथा हि अन्यथासिद्धा द्विविधाः सन्ति, केचित् कार्यनियतपूर्ववर्तिनः, केचिच्च कार्यनियतपूर्ववर्तिभिन्नाः । अनन्यथासिद्धत्वमात्रस्य कारणलक्षणत्वे तेषां द्विविधान्यथासिद्धानामेव भेदा लक्षणगर्भे निवेशनीयाः । कार्यनियतपूर्व-वर्तित्वरूपविशेष्यदलोपादाने तु कार्यनियतपूर्ववर्तिभिन्नानां तेन विशेष्यदलेनैव वारणसम्भवात् कार्यनियतपूर्ववर्तिनामन्यथासिद्धानामेव भेदकूटनिवेशेन चरितार्थतया सुमहल्लाघवं भवतीति ध्येयम्।

कार्यत्वं नाम प्रागभावप्रतियोगित्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषो वा। कार्यनियत-पूर्ववर्तित्वञ्च कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणाभाव-प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वम् । कार्याव्यवहितप्राक्क्षणश्च कार्यपूर्ववर्ती यः क्षणः केनापि कार्यपूर्ववर्तिना क्षणेन व्यवहितो न भवति स एव क्षणः । क्षणः सूक्ष्मतमः कालविशेषः। कार्यपूर्ववर्तिनः स्थूलकालस्य घटका बहव एव क्षणाः सन्ति। ते च क्रमेणाविर्भवन्ति। तत्र कार्यसन्निहितो यः कार्यापेक्षया पूर्ववर्ती प्रथमः क्षणः स एव तत्पूर्ववर्तिना क्षणान्तरेणाव्यवहितत्वात् तदीयाव्यवहितप्राक्-क्षणः, न तु तत्क्षणपूर्ववर्तीनि द्वितीयादिक्षणान्तराणि, तेषां अव्यवहितप्राक्क्षणादि-भिर्व्यवहितत्वात्।

नैयायिकभाषया तस्य निर्देशस्तु कार्यप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावा-नधिकरणत्वे सति कार्यप्रागभावाधिकरणक्षणः कार्याव्यवहितप्राक्क्षण इति । कार्याव्यवहितप्राक्क्षणपूर्ववर्तिक्षणेषु अतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । कार्योत्तरक्षणादिषु अतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम् । न च कार्यप्रागभावस्य तत्प्रतियोगिभूतकार्यनाश्यत्वस्य कार्योत्पत्त्यनन्तरमेव नाशसम्भवेन कार्यप्रागभावा-धिकरणसमयत्वस्य कार्योत्पत्तिक्षणरूपसमयेऽपि सत्त्वेन तत्पूर्वक्षणे तत्प्रागभावान-

धिकरणत्वस्याघटमानतया तत्र सत्यन्तार्थानुपपत्तिरिति वाच्यम् । प्रागभावस्य प्रतियोगिसामग्रीनाश्यत्वमतानुसारेण तदभिधानात् । अत्र प्रागभावाधिकरणत्वं कालिकसम्बन्धेन, दैशिकस्वरूपेण ध्वंसप्रागभावयोः प्रतियोगिसमवायिदेशवृत्तित्वनियमात् ।

कार्याधिकरणभिन्नकिञ्चिद्वृत्त्यभावमादायासम्भववारणाय कार्यसमानाधिकरणेत्यभावविशेषणम् । कार्यसामानाधिकरण्यघटककार्याधिकरणत्वं प्रकृतकार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन। प्रतियोगिता च प्रकृतकारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या। तादात्म्यसम्बन्धेन कारणतास्थले उपपत्त्यर्थं अभावपदेन भेदः अत्यन्ताभावश्चेति द्विविधाभावो ग्राह्यः ।

तदिदं कारणं द्विविधं, फलोपधायकं स्वरूपयोग्यञ्च । स्वाव्यवहितपूर्ववर्तित्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन कार्यविशिष्टं कारणं फलोपधायकम्। प्रकृतकारणतावच्छेदकधर्मवन्मात्रं स्वरूपयोग्यम्। तादृशकारणं घटादिकार्यस्थले अरण्यस्थदण्डादि । तादृशे कारणे अव्याप्तिवारणायैव लक्षणे तादृशाभावाप्रतियोगित्वमपहाय तादृशाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वपर्यन्तानुसरणम्। तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकधर्म एव कारणतावच्छेदको धर्मः। अव्याप्यवृत्तिचक्षुःसंयोगादिरूपप्रत्यक्षादिकारणस्थले विषयत्वादिरूपकार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रत्यक्षरूपकार्याधिकरणे प्रत्यक्षविषये घटादौ चक्षुःसंयोगादेरव्याप्यवृत्तेरभावमादायाव्याप्तिवारणाय प्रतियोग्यसम्बन्धित्वेन कार्याधिकरणं विशेषणीयम्। कार्यकारणयोरेकं विशेषोदाहरणं यथा–घटस्य कारणं दण्ड इति। अत्र कार्यो घटः, संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः, कार्यस्य घटत्वावच्छिन्नस्य तेन सम्बन्धेन अधिकरणं चक्रम्, कारणं दण्डः, स्वजन्यभ्रमिमत्त्वं कारणतावच्छेदकसम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन प्रकृतकार्यस्य घटत्वावच्छिन्नस्य संयोगसम्बन्धावच्छिन्नोत्पत्तिरूपकार्यतावच्छेदकसम्बन्धेनाधिकरणे चक्रे प्रकृतकार्यभूतघटाद्यव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन पदार्थान्तरस्य अभावो वर्तते, न तु दण्डस्य, अतः दण्डत्वं तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकभिन्नं तद्वत्तया दण्डे घटकारणलक्षणसङ्गतिः । कार्यनिरूपिता कार्यतानिरूपिता च कारणता, कारणनिरूपिता कारणतानिरूपिता च कार्यता बोध्या । कार्यतावच्छेदकगता अवच्छेदकता कार्यतानिरूपिता, कारणतावच्छेदकगता अवच्छेदकता कारणतानिरूपिता । कार्यतावच्छेदकभेदेन कारणतावच्छेदकभेदेन च यथायथं कार्यतावच्छेदकतावच्छेदककारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धविशेषा ऊहनीयाः ।

अथ असमवायिकारणम् । असमवायिकारणलक्षणं 'तत्रासन्नं जनकम्' इति विश्वनाथः प्राह । तदर्थश्च तत्रेति पूर्वोक्तसमवायिकारणे आसन्नं कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिकारणैकार्थप्रत्यासत्त्येतदन्यतरप्रत्यासत्त्या कार्याधिकरणे सम्बद्धं सत् यत् प्रकृतकार्यं प्रति जनकं अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ति तत् असमवायिकारणम् । कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिः–कार्येण सह एकस्मिन् अर्थे वस्तुनि अधिकरणभूते प्रत्यासत्तिः सम्बन्धः । तथाहि असमवायिकारणस्थले कार्यं समवायेन स्वसमवायिकारणे उत्पद्यते वर्तते च । तद् यथा–उक्तसमवायिकारणे सम्बद्धं तथैव तत्र समवायिकारणे सम्बद्धं सत् किमपि असमवायिकारणं कार्यस्य जनकं भवति सा प्रत्यासत्तिः कारणस्य समवायलक्षणा कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिः । यथाश्रुततदर्थः कार्यसमवाय्यनुयोगिकः समवायसम्बन्ध इत्यर्थः । यथा–घटादिकार्यं प्रति कपालादिसंयोगस्य असमवायिकारणतास्थले समवायेन घटादिकार्यस्य अधिकरणे कपालादौ समवायलक्षणा तस्य कपालादिसंयोगस्य प्रत्यासत्तिः । साक्षात् समवायमनुक्त्वा तादृशरूपेण प्रकृतप्रत्यासत्तिनिरुक्तिः कार्यकारणाभावोपयुक्तस्य प्रकृतकार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यप्रत्यायनाय । तदीयसंसर्गतावच्छेदकं समवायत्वमेव । कारणैकार्थप्रत्यासत्तिः–कारणेन सह एकस्मिन् अर्थे प्रत्यासत्तिः कारणसमवाय्यनुयोगिकः सम्बन्धः इति तत्पदस्य यथाश्रुतः अर्थः । कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या प्रत्यासन्नस्य सतः असमवायिकारणतायां प्रसिद्धमुदाहरणं घटरूपाद्यात्मकं कार्यं प्रति कारणं कपालरूपादि । किन्तु कारणैकार्थप्रत्यासत्तिपदस्य तादृशयथाश्रुतार्थपरिग्रहे तत्र तया प्रत्यासत्त्या घटरूपात्मकप्रकृतकार्यस्य समवायिकारणे घटे कपालरूपात्मकस्य असमवायिकारणस्य सम्बद्धत्वं न घटते । तथाहि प्रकृते कार्यं घटस्य रूपं,तस्य कारणं घटः, तस्य समवायि कपालात्मकं वस्तु तदनुयोगिकः सम्बन्धः कपालसमवेतस्य रूपस्य सम्बन्धः समवायलक्षणः । तेन सम्बन्धेन कपालरूपं कपाल एव सम्बद्धं न तु प्रकृतकार्यस्य अधिकरणे घटे । एवञ्च कपालरूपस्य घटरूपात्मककार्यसामानाधिकरण्याभावात् तत्र कारणसामान्यलक्षणमपि न सङ्गच्छते । अतः कारणैकार्थप्रत्यासत्तिपदस्य स्वसमवायिसमवेतत्वरूपः फलितार्थः स्वीक्रियते । प्रकृतस्थले स्वं कपालस्य रूपं तत्समवायि कपालं तत्समवेतत्वं घटे वर्तते, अतः तेन सम्बन्धेन कपालरूपात्मकस्य कारणस्य घटे

सम्बद्धत्वेन सर्वमुपपन्नम् । कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिकारणैकार्थप्रत्यासत्ति-रूपपारिभाषिकशब्दद्वयस्यार्थप्रदर्शनार्थमेव तयोरेतद्विवरणमुपन्यस्तम् । तस्य शब्दद्वयस्य न्यायसम्प्रदाये प्रचरद्रूपत्वात् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां विश्वनाथेन यथा- 'अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च' इति । फलितार्थस्तु समवायः स्वसमवायिसम-वेतत्वञ्चेति । तयोरन्यतरसम्बन्धेनैव च प्रकृतमसमवायिकारणलक्षणमभिप्रेतं प्राचाम् । तदुक्तं तत्रैव विश्वनाथेन-'क्वचित् समवायसम्बन्धेन क्वचित् स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः । इत्थञ्च कार्यैकार्थकारणै-कार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नं असमवायि-कारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसितम्' इति । पटादिसमवायिकारणतावच्छेदक-तन्तुत्वादावतिव्याप्तिवारणाय कारणमिति कारणतावच्छेदकतया तस्यान्यथा-सिद्धत्वेन अकारणत्वान्नातिव्याप्तिः । आत्मविशेषगुणानां क्वाप्यसमवायिकारणत्वा-भावात्ज्ञानादिभिन्नमिति ।

असमवायिकारणस्थले कार्यं समवायेनोत्पद्यते, कारणं समवायेन स्वसमवायिसमवेतत्वेन वा सम्बन्धेन कारणतामापद्यते । अतस्तत्र कार्यता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना, कारणता च क्वचित् समवायसम्बन्धावच्छिन्ना, क्वचिच्च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्ना । तदनुसारिण्या नव्यन्याय-भाषाया तदसमवायिकारणसामान्यलक्षणं यथा-समवायसम्बन्धावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितं समवायस्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नम् आत्मविशेषगुणावृत्ति कारणत्वं असमवायिकारणत्वम् । अवयविस्वरूपं घटकार्यं प्रति कपालकपालिकाद्यवयसंयोगस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटनिष्ठ-कार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकारणतामादाय असमवायिकारणत्वम् । घटस्य रूपं प्रति कपालादिगतरूपस्य घटरूपनिष्ठसमवायसम्बन्धाव-च्छिन्नकार्यतानिरूपितस्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणतामादाय असमवायिकारणत्वम् । कार्यगतरूपादीनां कार्यसमवायिकारणगतरूपाद्यनु-सारित्वेन तत्र तत्कारणत्वमवश्यमभ्युपेयम् । असमवायिकारणनाशे कार्यद्रव्यनाश इत्यादि तथ्यमप्यनुसन्धातव्यम् ।

प्रसङ्गादन्यतरशब्दस्यार्थो निरूप्यते-अन्यतरशब्दस्यार्थः भेदद्वयावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदवान् । यथा-घटपटयोरन्यतर इत्यत्र 'घटो न, पटो न' इति

भेदद्वयमेव प्रकृतभेदद्वयपदेन ग्राह्यम्। तादृशभेदद्वयं सम्भूय यत्र वर्तते स तादृशभेदद्वयवान् । स च घटभिन्नः सन् यः पटभिन्नः स एव । घटे घटभेदाभावात् पटे च पटभेदाभावात् तयोः क्वापि सम्भूय तादृशभेदद्वयस्यासत्त्वेन न तयोः कोऽपि घटो वा पटो वा तादृशभेदद्वयवान् भवति। अतः तादृशभेदद्वयवान् न इति भेदः तयोर्घटपटयोर्वर्तते। तादृशभेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमेव घटपटान्यतरत्वम् ।

प्रकृतासमवायिकारणलक्षणस्थले समवायस्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरत्वन्तु 'समवायो न, स्वसमवायिसमवेतत्वं न' इति भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वरूपम्।

अन्यतरत्वस्य द्वयवृत्तित्वेऽपि न द्वयपर्याप्तद्वित्वादिवत् व्यासज्यवृत्तित्वम्। किन्तु अव्यासज्यवृत्तित्वम् । अत एव निरुक्तान्यतरसम्बन्धपदेन एकैकस्य लाभात् क्वचित् समवायसम्बन्धेन क्वचित् स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन समवायिकारणे प्रत्यासत्तिघटितं प्रकृतासमवायिकारणलक्षणं सुसङ्गच्छते।

एवमन्यत्र यथाप्रयोजनमन्यतमशब्दार्थोऽप्यनुसन्धेयः । अन्यतमत्वं हि भेदकूटावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्। बहूनां भेदानां समूहो भेदकूटपदार्थः। पदार्थत्रयादिस्थले सिंहव्याघ्रहरिणानामन्यतम इत्यादौ सिंहो न, व्याघ्रो न, हरिणो न इति भेदत्रयादिकमादाय प्रागुक्तरीत्यैव समन्वयः कार्यः ।

असमवायिकारणविशेषलक्षणन्तु पूर्ववत् सामान्यलक्षणघटककार्यताकारणतयोः विशेषविशेषधर्मावच्छिन्नत्वादिकं निवेश्यैव करणीयम् । यथा-समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकपालत्वावच्छिन्नकारणत्वं घटत्वावच्छिन्ननिरूपितकपालकपालिकादि-संयोगत्वावच्छिन्नासमवायिकारणत्वम्। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

अथ निमित्तकारणं निरूप्यते। निमित्तकारणसामान्यलक्षणं नाम समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतारूपसामान्यसमवायिकारणताभिन्नं सत् समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायस्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नकारणतारूपसामान्यासमवायिकारणताभिन्नं यत् कारणत्वं तदेव सामान्यनिमित्तकारणत्वम्। तद्वदेव सामान्यनिमित्तकारणमिति। उदाहरणं यथा-घटनिष्ठया उत्पत्तिसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतया निरूपितायाः स्वजन्यभ्रमिमत्त्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणताया आश्रयो

दण्डः । तद्गताया घटनिरूपितकारणतायाः प्रागुक्तसामान्यसमवायिकारणताभिन्नसामान्यासमवायिकारणताभिन्नकारणतावत्त्वात् ।

न च कारणतायां निरुक्तसमवायिकारणत्वनिरुक्तासमवायिकारणतयोर्भेदमनिवेश्य कारणांशे समवायिकारणासमवायिकारणभेदनिवेशेन निमित्तकारणसामान्यलक्षणकरणे को दोषः । विश्वनाथेन तु 'आभ्यां परं तृतीयं स्यात्' इति कारिकावलीमूलग्रन्थेन 'आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः'– इति सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थेन च कारणांशे समवायिकारणासमवायिकारणभेदनिवेशेनैव लक्षणस्योपदिष्टत्वादिति वाच्यम् । तथा सति एकं कार्यं प्रति समवायिकारणात्मके कार्यान्तरं प्रति च निमित्तकारणे तथा एकं कार्यं प्रति असमवायिकारणात्मके कार्यान्तरं प्रति च निमित्तकारणे अव्याप्तेः । प्रकृतकार्यविशेषनिरूपितसमवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वयोः भेदप्रतियोगितावच्छेदकतया निवेशेन तद्दोषः शक्यपरिहार इत्यप्यविवेकविजृम्भितम्, तथा सति घटध्वंसादिनिमित्तकारणे दण्डादावव्याप्तेः, भावकार्यं प्रत्येव समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वयोः सम्भवेन ध्वंसनिरूपितयोस्तयोरप्रसिद्धेः । तादृशलक्षणस्य तत्तत्कार्यविशेषघटिततया सामान्यलक्षणत्वायोगाच्च । एतत् सर्वमतिनिपुणबुद्ध्या विचार्यैव प्राचीनाचार्या विश्वनाथाद्युक्तिमपि यथाश्रुतार्थपरिहारेणान्यथैव व्याख्यातवन्तः । यथा–'ननु समवायिकारणासमवायिकारणभिन्नत्वे सति कारणत्वस्य निमित्तकारणलक्षणत्वे पटनिमित्तकारणे तुरीतन्तुसंयोगे अव्याप्तिः, तस्य तुरीपटसंयोगासमवायिकारणत्वेन तद्भिन्नत्वविरहात् । न च तत्कार्यसमवायिकारणासमवायिकारणभिन्नत्वे सति तत्कार्यकारणत्वं तत्कार्यं प्रति निमित्तकारणत्वमिति विशिष्यैव लक्षणं वक्तव्यम्, तथा च तुरीतन्तुसंयोगस्य पटसमवायिकारणासमवायिकारणयोर्भिन्नत्वेन न तत्र पटनिमित्तकारणत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तथा सति ध्वंसं प्रति निमित्तकारणे प्रतियोग्यादावव्याप्तेः । तस्य समवायिकारणासमवायिकारणयोरप्रसिद्धेरित्याशङ्कां निराकुरुते 'अत्रेद' मित्यादिना (अत्रेदं बोध्यम् समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वभिन्नकारणत्वमेव निमित्तकारणत्वमित्यन्तेन) । 'समवायिकारणत्वं समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वम्, असमवायिकारणत्वञ्च समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितनिरुक्तान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वमिति बोध्यम्' इति रामरुद्रीयव्याख्यानकृतः । अन्येऽपि

बहव एवाचार्यास्तथैव व्याख्यानं कृतवन्तः । ध्वंसात्मककार्यस्थले ध्वंसनिष्ठकार्यतायाः समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावात् तन्निरूपितकारणतायाः समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतात्मकसमवायिकारणत्व-समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतात्मकासमवायिकारणत्वयो-र्भेदवत्त्वस्यावश्यम्भावात् सर्वत्र लक्षणसमन्वयः । सर्वमन्यत् स्वयमनुसन्धेयम् ।

॥ इति महामहोपाध्यायश्रीकालीपदतर्काचार्यकृतं
परिशिष्टप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

❖ सुप्रभाटीकान्तर्गत-ग्रन्थविशेषनाम्नां सूची

	अनुच्छेद क्रमाङ्क
अवच्छेदकत्वनिरुक्ति	५०
अवच्छेदकत्वनिरुक्ति-जागदीशीटीका	५१
तर्कसंग्रह	७३, ९९, १००
न्यायकुसुमाञ्जलि	७०
न्यायपरिभाषा	१०६
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	७, १२, ३३, ९९, ११०, १११
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-दिनकरीटीका	१२५
पक्षतादीधिति-जागदीशीटीका	११४
प्रशस्तपादभाष्य-न्यायकन्दलीटीका	३६
प्रशस्तपादभाष्य-सुक्तिटीका	३७
प्रशस्तपादभाष्य-सेतुटीका	३७
भाषापरिच्छेदकारिका-अपरनाम-कारिकावली	४, ७, ३३, ९९, ११०, ११८, १२५
व्याप्तिपञ्चक-रहस्य(माथुरी) टीका	५२, ७१, ९१, ९८
व्युत्पत्तिवाद	८४
शक्तिवाद	७६
सामान्यनिरुक्ति-गादाधरीटीका	४७
सामान्यलक्षणाप्रकरण-जागदीशीटीका	१७
सामान्यलक्षणाप्रकरण-दीधितिप्रकाशटीका	१९
सिद्धान्तलक्षण-जागदीशीटीका	६, ३०, ४७, ५५, ८४, १०६, १०९
सिद्धान्तलक्षण-दीधिति टीका	५, ६, ४७, ६२

❖ सुप्रभाटीकान्तर्गत-व्यक्तिविशेषनाम्नां सूची

	अनुच्छेद क्रमाङ्क
अन्नम्भट्ट	७३, ९९, १००
उदयनाचार्य	७०
गदाधर भट्टाचार्य	४७, ७६, ८४, ११५, ११६
जगदीश तर्कालङ्कार	१६, १७, १८, ३०, ४७, ५०, ५१, ५३, १०९, ११५, ११६
पद्मनाभमिश्र	३७
भवानन्द सिद्धान्तवागीश	१९
मथुरानाथ तर्कवागीश	५२, ७१, ९१, ९८
महर्षि कणाद	१४
महादेव भट्ट	१२५, १२६
रघुनाथ शिरोमणि	५, ४७, ५०
विश्वनाथ न्यायपञ्चानन	४, ७, ३३, ३५, ९९, १००, ११०, १११, ११८, ११९, १२५
श्रीधराचार्य	३६

A SHORT LIFE OF MAHĀMAHOPĀDHYĀYA **MAHEŚA CHANDRA** NYĀYARATNA, C.I.E.

MAHEŚA CHANDRA was born on the 22nd February, 1836, at the Village of Nārāt in the district of Howrah in Bengal. He belongs to the Bhaṭṭāchāryya family of Nārāt which has long been distinguished for the zealous cultivation of Sanskrit learning, and the number of learned Pandit it has produced. His father Harinārāyaṇa Tarkasiddhānta and his two uncles Guruprasād Tarkapañcānana and Ṭhākurdāsa Chūḍāmaṇi were eminent Pandits.

MAHEŚA CHANDRA'S first Sanskrit education began at the age of nine, at home, where he was taught his grammar (the Sankshiptasāra), and was made to commit to memory his Abhidhāna (the Amara-Kosha) by a Pandit employed to taech him and other young lads of the family. As Mahaśa Chandra's aptitude at learning the Kosha by heart was but small his teacher pronounced him an unpromising lad. When about twelve years of age, he left home for the village of Rasikganja in the Midnapur district, to receive his teaching in Sanskrit Grammar under Pandit Thākurdāsa Chūḍāmaṇi, a famous grammarian. The instruction received here was, according to the

custom of the country, gratuitous, the pupils being lodged and boarded, at the pandit's expense, at his own house. Maheśa Chandra's progress now was marked, and he became the favourite pupil of his teacher. the pupil had an occasion, too, for showing his devotion to the teacher. The Pandit's family came to be smitten with the small-pox, and Mahaśa chandra and some of his fellow pupils were assiduous in their attentions to the sufferers all through the period of their sufferings.

A Pandit, who was a Professor of logic, once visited Maheśa Chandra's teacher. The visitor was so much struck by Maheśa Chandra's intelligence and face and features that he observed that Maheśa Chandra was marked out by nature to be a logician.

MAHEŚA CHANDRA'S next move was to Calcutta in 1852, where it was intended, he should pursue his Sanskrit studies in the Government Sanskrit College there. The elementry course of Sanskrit studies that it was necessary at the outset to take up in the college did not, however, suit him. So instead of pursuring his studies in the college, he studied special subjects with eminent specialists; first of all, Nyāya with his uncle, Thākurdāsa Chūdāmani and Smriti partly with his father and partly with his kinsman Durgādāsa Tarkavācaspati, and subsequently the same subjects and other with some of the professors of the College at their homes, the instruction received being gratuitous. It was thus that he studied Nyāya with the very eminent Pandit Jaynārāyaṇa

Tarkapañcānana, rhetoric and other subjects with certain other professors of the College. Between Pandit Jaynārāyaṇa and his pupil Maheśa Chandra, there grew up a strong feeling of mutual regard and affection. Jaynārāyaṇa loved Maheśa Chandra with the affection of a father and Maheśa Chandra fully responded to the feeling. To the end of Jaynārāyaṇa's life, Maheśa Chandra was as a son to him.

His next tutor was a Pāñjābī ascetic, then in Calcutta, Parama haṁsa Jyotisvarūpa, whose intellect was of the finest and whose learning was most profound. With him he read the Vedānta and the Khandana Philosophy of Śrīharṣa, which bears some kinship to the positive Philosophy of Comte, and which, though not unknown in Bengal was nowhere studied in the province. He next studied Astrology with the learned Pandit Kālināth Tarkaratna, who was an Astrologer by caste. This was a departure from orthodoxy; for no good Brāhmaṇa would ever learn from one belonging to the Astrologer caste.

Banaras was the place where Maheśa Chandra went through his final Course of studies under tutors. He began his studies there in 1861, and studied the Vedas (Upanishad) and the Pātañjala and Mīmāṁsā Darśana. Foremost among his tutors there was Daṇḍī Viśuddhānanda Svāmī, now the head of the Daṇḍī's of the place and the most learned scholar among them. Maheśa Chandra was a favourite pupil of Daṇḍī, who, though an ascetic, still regards Maheśa Chandra with deep personal affection. At Ba-

naras he became acquainted with the well-known Sanskrit scholar, Mr. Griffith, the Principal of the college there. Mr. Griffith gave him a highly complimentary certificate.

On his return to Calcutta from Banaras, in 1863, he setup a Chatuṣpāṭhī (Tol) for imparting gratuitous instruction, under the patronage of Mahārājā Kamalkrishna, grandson of Rājā Navakrishna of historic fame. Mahārājā Kamalkrishna took a lively interest in Maheśa Chandra's welfare since he first came to know him as a boy. Maheśa Chandra set up his Chatuṣpāṭhi with very good credentials; for he had acquired fame as a pandit in several disputations with pandits of established reputation.

In 1864, he was appointed to an Assistant Professorship in the Goverment Sanskrit College in calcutta on the recommendation of prof. E.B. Cowell, who was then Principal of the college, and who knew of Maheśa Chandra's scholarship, having himself studied Hindu Philosophy with him. On receiving his appointment in the college, he began to learn English. From Assistant Professor he came to be a Professor of Rhetoric, of Hindu Philosophy and of Hindu law in the College. In 1876 he was promoted to the Heigher Bengal Education Service, being the first and yet the only Pandit admitted to this class of appointments. In 1877 he was appointed to the Principalship of the College, in an office which he still holds.

He is a Member of several larned bodies in India,

namely, the Asiatic Society of Bengal, the Indian Association for the Cultivation of Science, the Calcutta University, the Board of Examinears, the Central Text Book Committee of Bengal, the Behar Sanskrit Samāj and the Anthropological Society of Bombay, and he has lately been elected a Foreign Member of the Hungarian Academy of Sciences at Buda Pest. He is also a Joint-Secretary of Hindu Hostel Committee, a member of Bethune (Girls') College Committee, and a visitor of the Government Engineering College at Sibpur in the neighbourhood of Calcutta.

During the tenure of his principalship Maheśa Chandra has taken the initative in institution, by the Government of Bengal, of an examination, called the Sanskrit Title Examination, for the conferment of titles on meritoriouos students of special departments of sanskrit learning. To this examination are admitted students from indigenous institutions (Called Chatuṣpāṭhīs or Tols) as well as from the special classes that have been organised in connection with the Sanskrit College. The Title Examination has been the means of stimulating in some measure, all over Bengal, the rather waning zeal for the cultivation of Sanskrit learning. Rewards are given by Government to teachers whose pupils succeed well at the examinations, and a number of private endowments and donations for award of rewards and scholarships to meritorious candidates have come forward. The example of the Sanskrit Title Examination has led to

the institution at Dacca and other places of Samāja which hold examinations similar to the Sanskrit Title Examination.

He convinced the Viceroy lord Dufferin, in 1887, of the desirableness of Goverment conferring some mark of distinction upon native gentlemen distinguished for Oriental learning and the result was the creation of the title of Mahāmahopādhyāy and Shams-ul-Ulam, the one intended for eminent Pandits and the other for eminent Maulavis.

Government has honoured Meheśa Chandra by investing him with the Companionship of the order of the Indian Empire in 1881, and with the literary title of Mahāmahopādhyāya in 1887, when the title was first created. In respect of literary work, he has edited with copious notes, the Kāvya Prakāśa, and under the patronage of the Asiatic Society of Bengal, the Mīmāṁsā Darśana and the Black Yajurveda. He has written also several pamphlets, such as Remarks of Dayānanda Sarasvatī's Veda-Bhāshya, Tulasidhāraṇa Mīmāṁsā. The Authorship of Mrichchhakaṭika, lupta Samavatsara etc.

In respect of works of practical beneficence, he has done a good deal, by pecuniary help and otherwise, in furtherance of famine relief the promotion of education, and the opening out of means of communication. Relief to sufferers from famine in 1866' was his first act of beneficence. In the next year followed his co-operation towards the relief of sufferers from a destructive cyclone. To the Science Association of

Calcutta he made a handsome donation in 1870. He maintains a Seconary School (A High Anglo-Sanskrit School) at his native village, and he has not only greatly improved the roads in and near about this village, but has ever taken a leading part in the opening out of good roads and tramways in his native Districts.

In matters of public interest generally, he has always taken a lively interest, and upon everything that he has had to put his hand to, he has brought to bear a keen and versatile intelligence, and an abounding energy and strength of will.

A FRIEND OF MAHESHA CHANDRA

November 7, 1889

ACKNOWLEDGEMENTS & INTRODUCTION

During editing this volume, we got assistance from three following scholarly personalities in Nyāya philisophy.

* Sheikh Sabir Ali made available to us this volume and requasted us to get it edited.
* Vimal Rakshit has translated the Bengali "Suprabhā" commentary in Sanskrit.
* Ayan Bhattacharya has made research in it and also made appropriate corrections.

We are pleased to give a brief introduction to these three scholars.

1. Dr. Ayan Bhattacharya (M.A., M.Phil, Ph.D.) 1st Class 1st in both B.A. and M.A. in Sanskrit at Calcutta University.
   Head of the Department of Sanskrit, West Bengal State University, Barasat.
   Areas of Specialisation :-
   Nyāya and other systems of Indian philosophy, Vyākarana, Sāhitya, Veda and Dharma Śāstra.

2. Sheikh Sabir Ali (M.A., M.Phil)
   1st Class 1st in both B.A. and M.A. in Sanskrit at Calcutta University.
   Assistant Professor of Sanskrit, West Bengal State University, Barasat.
   Areas of Specialisation :-

Nyāya and other systems of Indian philosophy, Vyākaraṇa and Sāhitya.

3. Bimal Rakshit (M.A., Net Qualified)
   1st class 1st in M.A. in Sanskrit of West Bengal State University, Barasat.
   Specilisation :-
   Vyākaraṇa and Darśana

आचार्य श्री सुरेन्द्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञानशाला की ओर से प्रकाशित पुस्तकों की सूचि

	१.	सुवर्णाक्षरीय कल्पसूत्र (प्रत)	प्राकृत
	२.	उपदेशप्रासाद (प्रत) भाग १ से ४	संस्कृत
●	३.	क्रियारत्न समुच्चय	संस्कृत
	४.	चतुर्विंशति जिन चरितानि	संस्कृत
	५.	प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार (मूल + अवचूरि)	संस्कृत
	६.	अध्यात्म कल्पद्रुम (मूल)	संस्कृत
	७.	अध्यात्म सार (मूल)	संस्कृत
	८.	पारमर्ष स्वाध्याय (मूल)	संस्कृत
●	९.	नियमनी नाव, उतारे भवपार	गुजराती
●	१०.	पुनित प्रसादी	गुजराती
●	११.	"सुराज" नित्य स्मरणिका	गुजराती
●	१२.	ज्ञानपद पूजा	गुजराती
●	१३.	कलकत्ता पच्चक्खाण मार्गदर्शिका	गुजराती
●	१४.	दिल्ही पच्चक्खाण मार्गदर्शिका	गुजराती
●	१५.	एक रात की चौकी (कथा)	गुजराती
●	१६.	मैं साधु बन जाऊँगा (कथा)	हिन्दी
	१७.	श्री श्रीपाल राजा का रास	हिन्दी
	१८.	श्री श्रुतज्ञान अमीधारा	संस्कृत
	१९.	श्री जैन धर्म प्रकरण रत्नाकर	गुजराती
	२०.	धातु रूपावली	संस्कृत

●	२१. कथा मौक्तिकमाला	गुजराती
●	२२. मधुर कथामाला	गुजराती
	२३. गुणवैभव परम विभूतिनो	गुजराती
	२४. सम्यग्दर्शन	गुजराती
	२५. वांचन आंदोलन–रीडर्स गाईड	गुजराती
	२६. अध्यात्म–कल्पद्रुम	संस्कृत–गुजराती
	२७. जैनागम शब्दसंग्रह	प्राकृत–गुजराती

● निशानीवाली पुस्तकें अप्राप्य हैं।

सूरिराम पुण्यस्मृति ग्रन्थावलि अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकों की सूचि

●	१.	हेमविभ्रम	संस्कृत
●	२.	कविकल्पद्रुम	संस्कृत
	३.	गुरुराम संस्मरण यात्रा	गुजराती
	४.	गुरुराम संस्मरण रास	गुजराती
	५.	आर्हत् दर्शन दीपिका	गुजराती
	६.	भव आलोचना	हिन्दी
	७.	श्री सम्यक्त्व सहित बारहव्रत की संक्षिप्त जानकारी	हिन्दी
	८.	हिमालयनी गोदमां अष्टापदनी शोधमां	गुजराती
	९.	हिमालय की गोद में, अष्टापद की शोध में	हिन्दी
	१०.	नव्यन्यायभाषाप्रदीपः	संस्कृत
	११.	Catalogue of Palm-Leaf Manuscripts with Basic Manuscriptology	अंग्रेजी
	१२.	सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहन्न्यास अध्याय-३-पाद-४	संस्कृत
	१३.	आर्हत्दर्शन दीपिका (आगामी प्रकाशन)	हिन्दी
	१४.	भव आलोचना	गुजराती
	१५.	सम्यक्त्वसहित बारव्रतनी जाणकारी	गुजराती

● निशानीवाली पुस्तकें अप्राप्य हैं।